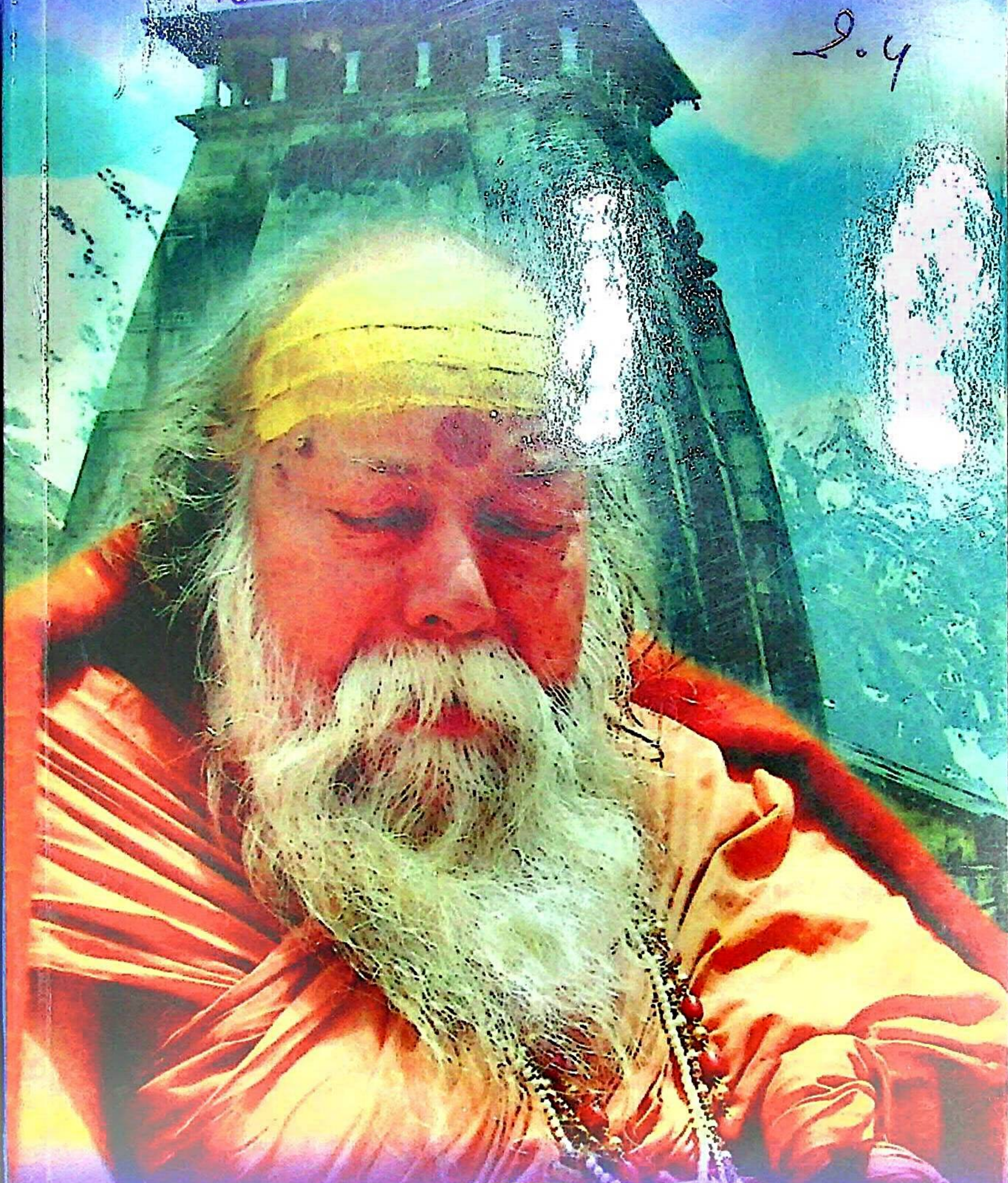
श्रीसद्गुरु सन्देश सुधा

(पूज्य महाराजश्री के जन्मोत्सव पर प्रकाशित संदेशों का संकलन)

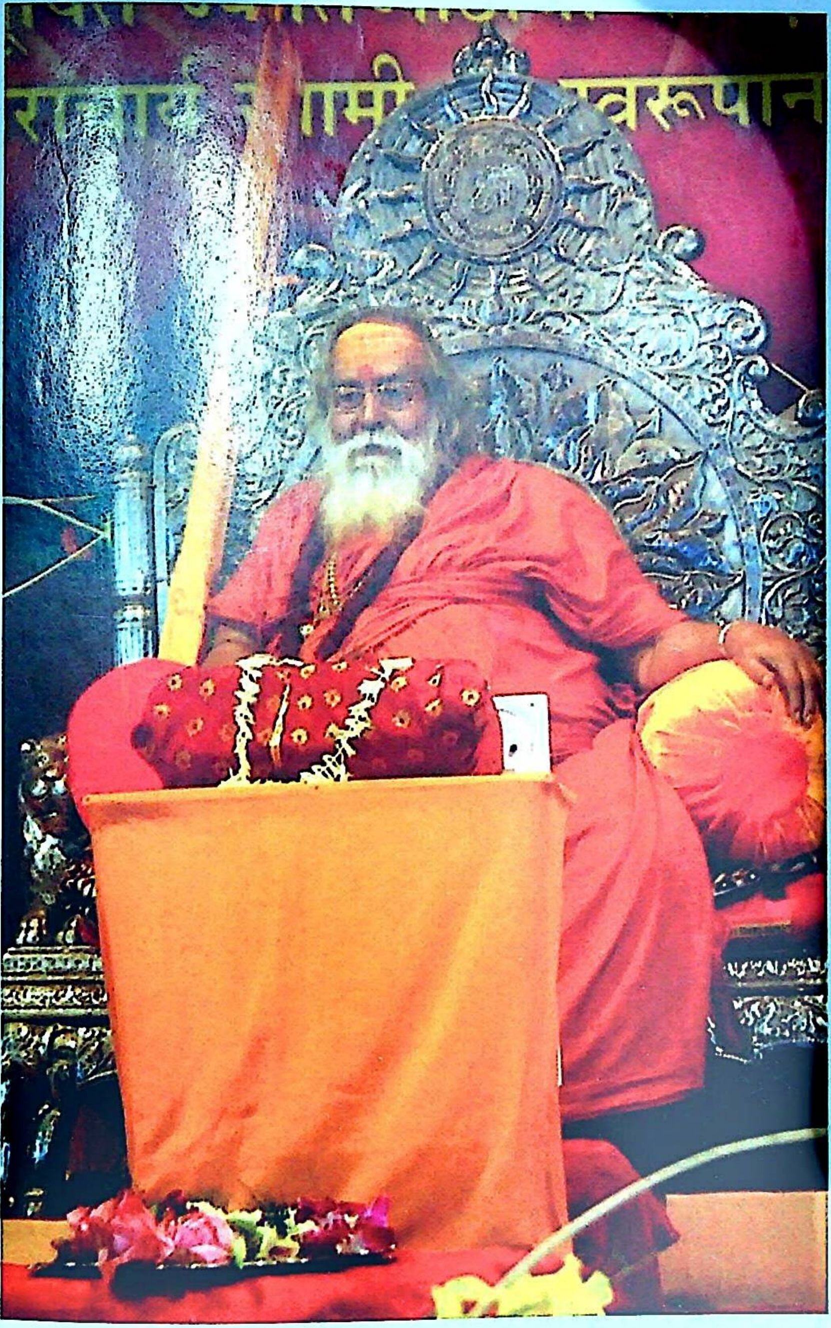


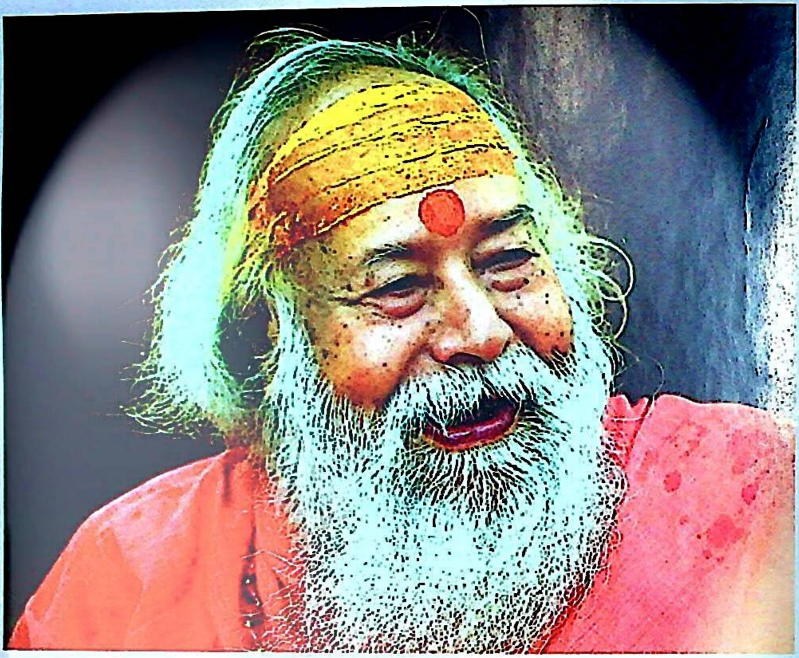
प्रकाशक

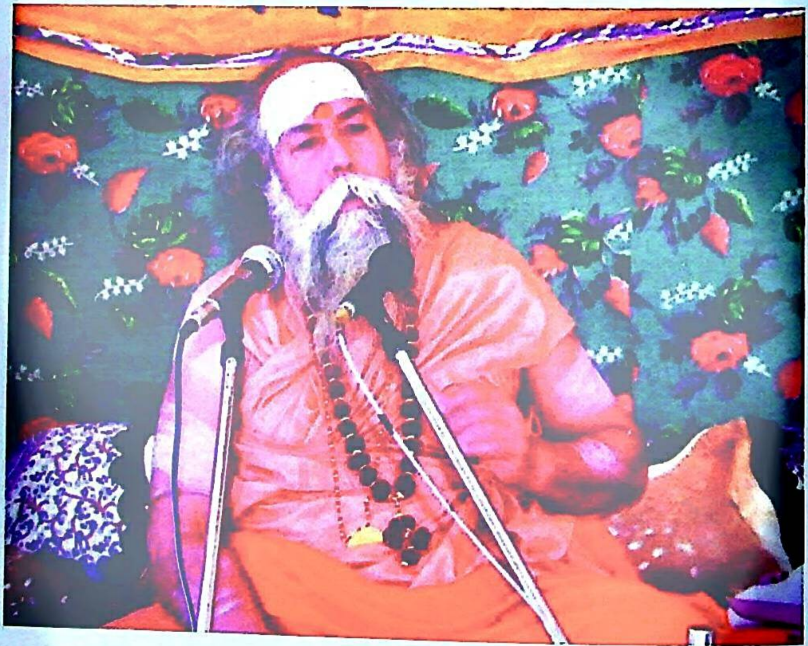
आध्यात्मिक उत्थान मण्डल



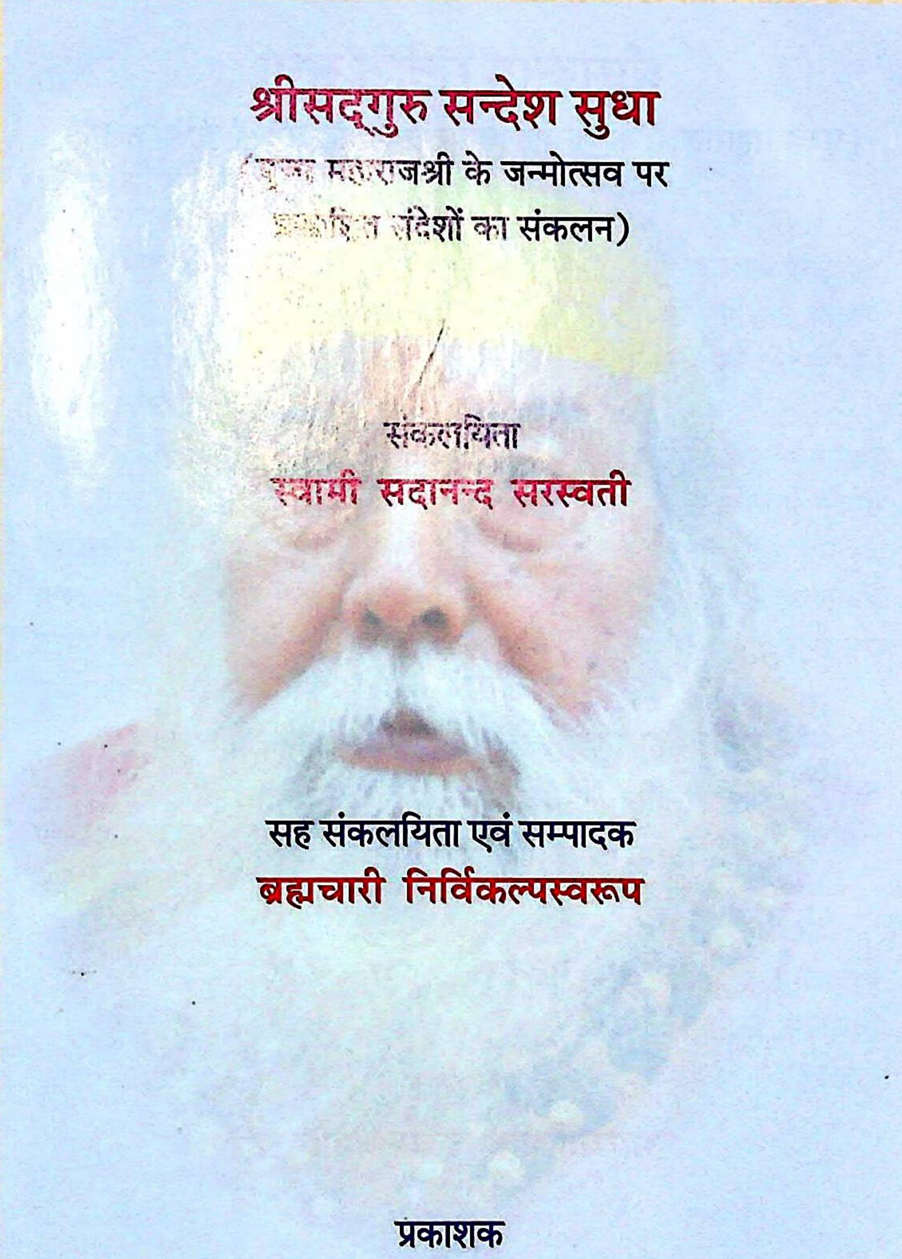
श्रीसद्गुरु संदेश सुधा







श्रीसद्गुरु संदेश सुधा



श्रीसद्गुरु सन्देश सुधा

(पूज्य महाराजश्री के जन्मोत्सव पर
प्रकाशित संदेशों का संकलन)

संकलयिता

स्वामी सदानन्द सरस्वती

सह संकलयिता एवं सम्पादक

ब्रह्मचारी निर्विकल्पस्वरूप

प्रकाशक

आध्यात्मिक उत्थान मण्डल

श्रीसद्गुरु सन्देश सुधा

(पूज्य महाराजश्री के जन्मोत्सव पर प्रकाशित संदेशों का संकलन)

संकलयिता

स्वामी सदानन्द सरस्वती

सह संकलयिता एवं सम्पादक

ब्रह्मचारी निर्विकल्पस्वरूप

प्रथम संस्करण – ५००० प्रति

पूज्य महाराजश्री का ९५ वाँ पावन प्राकट्योत्सव

हरितालिका तीज संवत् २०७५ (वृन्दावन)

(तदनुसार दिनाङ्क १२ सितम्बर २०१८)

मूल्यम् – १००/–

प्रकाशक

आध्यात्मिक उत्थान मण्डल

मुद्रक

वोरार्ट, अहमदाबाद (गुजरात)

प्रणमाञ्जलिः

आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते ।।

जो शास्त्रों के अर्थ का चयन कर स्वयं शास्त्रमार्ग का अनुसरण करते हुए अन्य लोगों को भी शास्त्रमार्ग पर चलाने की प्रेरणा देते हैं, ऐसे महापुरुष आचार्य कहे जाते हैं। हमारे गुरुदेव भी ऐसे ही आचार्य हैं अतः उनके सभी सन्देश परम कल्याणकारी हैं।

लोकोत्तर श्रीमज्जगद्गुरु भगवत्पाद आद्यशङ्कराचार्य जी की परम्परा का सम्यक् निर्वहन करने वाले हमारे गुरुदेव पीठद्वयाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज को शङ्कराचार्य पद पर अभिषिक्त हुए ४५ वर्ष हो चुके हैं। शङ्कराचार्य बनने के पहले से प्रत्येक चातुर्मास्य में विश्वकल्याणार्थ उनके सन्देश प्राप्त करने का अवसर उनके प्राकट्योत्सव के निमित्त से हम गुरुभक्तों को प्राप्त होता रहा है।

ब्रह्मचारी श्रीनिर्विकल्प स्वरूप ने उन सारे सन्देशों को एकत्रित कर एक पुस्तक का स्वरूप प्रदान करने का प्रयास कर सभी गुरुभक्तों को अनुपम ग्रन्थोपहार प्रदान किया है, वे गुरुदेव के कृपापात्र तो हैं ही। गुरुदेव व गुरुभक्तों के प्रीतिकर ऐसे कार्य आगे भी करते रहें ऐसी मंगलकामना करते हैं।

शुभाकांक्षी
स्वामी सदानन्द सरस्वती
श्रीशारदापीठ, द्वारका (गुजरात)



प्राक्कथन

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि सद्गुरु सर्वदेवमय होता है । सद्गुरु को मेरा ही स्वरूप जानना चाहिए ।

आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत् कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ।।

अर्थात् आचार्य को मेरा ही स्वरूप जानें, उनका कभी अनादर न करें । सद्गुरु आचार्य में मनुष्यबुद्धि रखकर उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये क्योंकि सद्गुरु सर्वदेवमय है । सभी देवताओं का निवास सद्गुरु में माना गया है अतः गुरु की पूजा अर्चना करने से सभी देवों की पूजा अर्चना करने का फल प्राप्त होता है ।

जो सद्गुरु में मनुष्यबुद्धि करता है, उसका सारा विद्या अध्ययन हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ हो जाता है ।

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ।।

हाथी स्नान करने के बाद अपने मस्तक पर सूँढ से धूल डाल लेता है, इसी प्रकार ज्ञानप्रदान करने वाले गुरु में मनुष्यबुद्धि करने वाले की विद्या फलीभूत नहीं होती है । इसीलिए शास्त्रों में हरि और गुरु में अभेदबुद्धि रखने का वर्णन प्राप्त होता है ।

जो श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ होता है, वही सद्गुरु कहलाता है । ऐसे सद्गुरु का एक-एक वचन शिष्यों के लिए शास्त्ररूप ही होता है और उनका उपदेश मनुष्यमात्र का कल्याण करने वाला होता है । ऐसे ही सद्गुरु हैं हमारे गुरुदेव जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज जो दो शाङ्करपीठ (ज्योतिष्पीठ एवं द्वारकाशारदापीठ) के आचार्य हैं ।

सद्गुरु की सच्ची सेवा उनके आदेशों का पालन करना है । उनके सदुपदेशों को अपने जीवन में उतारकर उनको चरितार्थ करने से सद्गुरु सर्वाधिक प्रसन्न होते हैं । महापुरुषों के आचरण और उपदेश हमेशा से साधकों को परमार्थपथ की ओर अग्रसर करने में सर्वाधिक सहायक हुए हैं ।

समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं । इसी को सच्चा सुख कहते हैं । इसी सुख की प्राप्ति के लिये प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील है । यह सुख अपने वास्तविक स्वरूप को जानने पर ही मिल सकता है । जीव और ब्रह्म की एकता के सम्यक् बोध को ज्ञान कहते हैं, इसी ज्ञान से मुक्ति मिलती है । बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिल सकती "**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**" । यह ज्ञान सद्गुरु से ही प्राप्त हो सकता है । गुरु के उपदेशों का श्रवण-मननादि करने से अपने आत्म स्वरूप का बोध होता है अतः निरन्तर गुरु के वचनों का श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन करते रहना चाहिये । ऐसा करने पर उनकी कही हुई बातें हृदय में स्थिर हो जाती है, जिससे मनुष्यों का परम कल्याण होता है और भवबन्धन से सर्वदा के लिये छुटकारा मिल जाता है।

पूज्य गुरुदेव जगद्गुरु जी महाराज भक्तों के आग्रह पर अपने प्राकट्य दिवस पर प्रतिवर्ष सभी मनुष्यों के कल्याणार्थ एक पावन सन्देश देते हैं, जिसको छपवाकर गुरुभक्तों में वितरण किया जाता है । यह क्रम अनेक वर्षों से निरन्तर चला आ रहा है। पूज्य गुरुदेव जब शङ्कराचार्य पद पर प्रतिष्ठित नहीं हुए थे, उसके पहले से यह क्रम चला आ रहा है । उन सभी सन्देशों को एक साथ एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराने की इच्छा हुई जिससे कि गुरुभक्तों को और सभी साधकों को इन उपदेशों का लाभ प्राप्त हो सके ।

हमारे गुरुदेव के प्रतिनिधि शिष्य पूज्य दण्डी स्वामी श्रीसदानन्द सरस्वती जी महाराज ने कई वर्षों पूर्व २५ छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के माध्यम से २५ सन्देशों को प्रकाशित करवाया था । और हमारे गुरुदेव के प्रतिनिधि शिष्य पूज्य दण्डी स्वामी श्री अविमुक्तेश्वरानन्द जी महाराज के सम्पादकत्व में परमार्थ पथ नामक पुस्तक के माध्यम से पूज्य गुरुदेव के सन्देशों को कई वर्ष पूर्व प्रकाशित करवाया जा चुका है, उसके संकलयिता हमारे पूज्य स्वामी सदानन्द जी ही हैं ।

पिछले ५२ वर्षों (१९६५ से २०१७ तक) के सन्देशों को इस पुस्तक में संग्रहित किया गया है । सत्यानुसन्धान और परमार्थपथ नामक पुस्तकों से पूर्व के सन्देशों को लिया गया है और गत १४ वर्षों के सन्देशों का संग्रह हमारे द्वारा किया गया था, जिनमें कई सन्देश नहीं मिल पा रहे थे । उन अनुपलब्ध सन्देशों

की खोज करने पर गुरुकृपा से वे सारे सन्देश गुरुभक्तों से उपलब्ध हो गये, जिन्होंने उन सन्देशों को उपलब्ध करवाया, उनका हृदय से आभार प्रकट करते हैं।

इस पुस्तक की पूरी धनराशि हमारे गुरुदेव के शिष्य ब्रह्मचारी कमलेश्वरानन्द जी ने दी है। इसका टंकणकार्य परमहंसी में कार्यरत श्रीरामकुमार तिवारी जी ने किया है और इतना सुन्दर सज्जीकरण द्वारका के हमारे सुरेश उपाध्याय जी ने किया है।

पूज्य गुरुदेव के प्रत्येक सन्देश एक नयी प्रेरणा देते हैं, भवसागर में निमग्न जनों के लिये सुन्दर सुदृढ नौका के समान है जिस पर आरूढ होकर साधक मुक्ति तीर को प्राप्त कर सकता है। इन उपदेशों में सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे हो, परमार्थपथ क्या है, आत्मा का उद्धार कैसे करें। मन को वश में कैसे करें आदि का वर्णन है तथा मानव शरीर की दुर्लभता, ब्रह्मसाक्षात्कार से कृतकृत्यता, मन को निर्मल बनाने के उपाय, धर्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा, जगत् का मिथ्यात्व, सत्संग की आवश्यकता आदि पर विशेष जोर दिया गया है।

श्रद्धाभक्तिपूर्वक जो भी मनुष्य सद्गुरु के इस सन्देश सुधा का नित्य पान करेगा, निश्चित रूप से वह अमरत्व (मुक्ति) को प्राप्त करेगा, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। सद्गुरु की सन्देश सुधा का अनेकवर्षों तक पान करने का सौभाग्य सभी गुरुभक्तों को आगे भी इसी प्रकार मिलता रहे, ऐसी गुरु और गोविन्द के चरणों में प्रार्थना करते हुए गुरुदेव की वस्तु को उन्हीं के पादपद्मों में समर्पित करते हैं।

ब्रह्मचारी निर्विकल्पस्वरूप
परमहंसी गंगा आश्रम, झोंतेश्वर
जिला–नरसिंहपुर (म.प्र.)



अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज का संक्षिप्त-परिचय

भारत की पवित्र तपोभूमि में वसुन्धरा ने समय-समय पर महान् तेजस्वी पुरुषों को जन्म दिया है । ऐसे ही अवतारी पुरुषों से हमारा भारत, सनातन वैदिक धर्म सुमेरु हिमालय की तरह स्थिर व स्थित है । धार्मिक अनुष्ठानों एवं अध्यात्मज्ञान के तत्वों का पोषक यह भारत संसार के समक्ष इतर देशों की अपेक्षा अपना मस्तक ऊँचा किये हुए खड़ा है । ऐसे अध्यात्मराज्य के राजा महापुरुषों का आदर्श स्वीकार कर हमें अपने जीवन को उन्नत बनाना चाहिए ।

पुस्तक पढ़ने से जिसका ज्ञान नहीं होता, वह अलभ्य ज्ञान संत महापुरुषों की सेवा से सहज ही प्राप्त हो जाता है; क्योंकि संतों का ज्ञान ही आचरण है । भगवान् आदि शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित चार पीठों में से दो पीठों (द्वारका एवं ज्योतिष्पीठ) को सुशोभित करने वाले स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज जैसी दिव्य-विभूति का संक्षिप्त परिचय अनधिकारी चेष्टा है, तथापि सद्गुरुदेव भगवान् के चरण-कमलों में अपनी श्रद्धा-भक्ति, प्रेम-पूर्ण पुष्पाञ्जलि प्रदान करने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ ।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज करोड़ों सनातन हिन्दु-धर्मावलम्बियों के प्रेरणापुंज और उनकी आस्था के ज्योति स्तम्भ हैं; जिनके मन में दलितों-शोषितों के प्रति असीम करुणा है। उनके विषय में सम्पूर्णता के दावे के साथ कुछ भी लिख पाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। इसलिए क्योंकि पूज्य श्रीचरण एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व के धनी हैं । आप जरा उनके जीवन पर, उनके कार्यों पर एक नजर तो डालिये, कहीं भी किसी तरह के अभाव का अनुभव, आपको नहीं होगा । अब इसे भला किस तरह आप अभिव्यक्ति दे सकेंगे ? पूर्णता को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता । हाँ, असम्पूर्ण से उसकी ओर संकेत अवश्य किया जा सकता है । वैसे ही जैसे कोई

अपने दोनों हाथ फैलाकर महाकाश के महत्त्व को अभिव्यक्त करे ।

महिम्न स्तोत्र के रचयिता ने भगवान् शङ्कर की महिमा को इन शब्दों से अभिव्यक्त किया है कि यदि सारी पृथ्वी ही एक कागज हो, समुद्र स्याही हो, कल्पवृक्ष की शाखायें लेखनी हों और स्वयं सरस्वती ही सारा समय लिखती रहें तो भी उस पूर्णता को अभिव्यक्त नहीं कर सकेंगी । इतिहास साक्षी है कि वे ही भगवान् शङ्कर आदि शङ्कराचार्य के रूप में आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व अवतरित हुए और उन्होंने अपने छोटे से जीवन में बड़े-बड़े कार्यों से इस देश को सम्पूर्ण बनाकर अपनी सम्पूर्णता की ओर संकेत किया । जो स्वयं पूर्ण है वही अपूर्ण को पूर्ण कर सकता है ।

उन्हीं भगवान् आदिशङ्कराचार्य के द्वारा प्रवर्तित परम्परा की एक नहीं, दो-दो कड़ियों को पूर्णता प्रदान कर रहे हैं पूज्य श्रीचरण, ज्योतिष्पीठ और द्वारका-शारदापीठ के अधिपति के रूप में । आज समय वह नहीं है, परिस्थितियाँ भी वह नहीं है, फिर भी पूज्य श्रीचरणों ने जो कुछ किया वह उनके महिमामय सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त है । दूसरा कोई यदि उसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करेगा तो वह निदर्शन मात्र होगा । यहाँ वही करने का प्रयास किया जा रहा है ।

पूज्य महाराजश्री का जन्म संवत् १९८० के भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की तृतीया (तदनुसार २ सितम्बर, १९२४) के शुभ दिन भारत के हृदयस्थल माने जाने वाले मध्यप्रदेश के सिवनी जिले के दिघोरी गाँव में सनातन हिन्दू परम्परा के कुलीन ब्राह्मण परिवार में पिताश्री धनपति उपाध्याय एवं माता गिरिजा देवी के यहाँ हुआ । माता-पिता ने विद्वानों के आग्रह पर इनका नाम पोथीराम रखा । पोथी अर्थात् शास्त्र, मानो यह शास्त्रावतार हों। ऐसे संस्कारिक परिवार में पूज्यश्री के संस्कारों को जागृत होते देर न लगी और मात्र नव वर्ष की कोमल वय में आपने गृह त्याग कर धर्म-यात्राएँ प्रारम्भ कर दीं । भारत के प्रत्येक प्रसिद्ध तीर्थों, स्थानों और संतो के दर्शन करते हुए आप काशी पहुँचे । वहाँ आपने ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री जी महाराज एवं स्वामी महेश्वरानन्द जी जैसे विद्वानों से वेद-वेदांग, शास्त्र-पुराणेतिहास सहित स्मृति एवं न्याय ग्रन्थों का विधिवत् अनुशीलन किया ।

यह वह काल था जब भारत को अंग्रेजों से मुक्त करवाने की लड़ाई चल रही थी । महाराजश्री भी इस पक्ष के थे, इसलिये जब १९४२ में 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का घोष मुखरित हुआ तो महाराजश्री भी स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े और मात्र १९ वर्ष की अवस्था में 'क्रांतिकारी साधु' के रूप में प्रसिद्ध हुए । पूज्य श्रीचरणों को इसी सिलसिले में वाराणसी और मध्यप्रदेश के जेलों में क्रमशः ९ और ६ महीने की सजाएं भोगनी पड़ी । महापुरुषों की संकल्प शक्ति से १९४७ में देश आज़ाद हुआ । अब पूज्यश्री में तत्त्वज्ञान की उत्कण्ठा जागी ।

भारतीय संस्कृति में एकता के प्रतीक सन्त श्रीमदादिशङ्कराचार्य द्वारा स्थापित अद्वैत मत को सर्वश्रेष्ठ जानकर, आज के विखण्डित समाज में पुनः शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों के प्रसार को आवश्यक जान और तत्त्वचिन्तन के अपने संकल्प की पूर्ति हेतु १९५० में ज्योतिष्पीठ के ब्रह्मलीन शङ्कराचार्य स्वामी श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज से विधिवत् दण्ड संन्यास की दीक्षा लेकर 'स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध हुए ।

जिस भारत की स्वतन्त्रता के लिए आपने संग्राम किया था, उसी भारत को आजादी के बाद भी अखण्ड शान्त और सुखी न देखकर एवं भारत के नागरिकों को दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों से मुक्ति दिलाने हेतु स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा स्थापित 'रामराज्य परिषद्' पार्टी के अध्यक्ष पद से सम्पूर्ण भारत में रामराज्य लाने का प्रयत्न किया और हिन्दुओं को उनके राजनैतिक अस्तित्व का बोध कराया ।

ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य स्वामी कृष्णबोधाश्रम जी महाराज के ब्रह्मलीन हो जाने पर सन् १९७३ में द्वारकापीठ एवं पुरी के शङ्कराचार्य तथा स्वामी करपात्री जी महाराज सहित देश के तमाम संतों, विद्वानों द्वारा आप ज्योतिष्पीठ पर अभिषिक्त हुए और ज्योतिष्पीठाधीश्वर शङ्कराचार्य के रूप में हिन्दू धर्म को अमूल्य संरक्षण देने लगे ।

आपका संकल्प है – 'विश्व का कल्याण' । इसी शुभ भावना को मूर्तरूप देने के लिए आपने बिहार प्रान्त के सिंहभूम जिले में 'विश्व कल्याण आश्रम' की स्थापना की । जहाँ जंगल में रहने वाले आदिवासियों को भोजन, औषधि एवं रोजगार देकर उनके जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास किया । सम्प्रति दो

करोड़ की लागत से एक विशाल एवं आधुनिक अस्पताल वहाँ निर्मित हो चुका है, जिससे क्षेत्र के तमाम गरीब आदिवासी लाभान्वित हो रहे हैं ।

पूज्य महाराजश्री ने समस्त भारत की आध्यात्मिक उन्नति को ध्यान में रखकर 'आध्यात्मिक उत्थान मण्डल' नामक संस्था स्थापित की । जिसका मुख्यालय भारत के मध्यभाग में मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर जिले में रखा । जहाँ पूज्य महाराजश्री ने ही राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी भगवती का विशाल मन्दिर बनवाया है । सम्प्रति सारे देश में आध्यात्मिक उत्थान मण्डल की १२८० से अधिक शाखाएँ लोगों में आध्यात्मिक चेतना के जागरण एवं ज्ञान तथा भक्ति के प्रचार के लिये समर्पित हैं ।

द्वारका-शारदापीठ के जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीअभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ जी महाराज के ब्रह्मलीन होने पर उनके इच्छापत्र के अनुसार २७ मई १९८२ को आप द्वारकापीठ की गद्दी पर अभिषिक्त हुए और आदिशङ्कराचार्य द्वारा स्थापित चार पीठों की परम्परा में एक साथ दो पीठों पर विराजने वाले शङ्कराचार्य के रूप में प्रसिद्ध हुए ।

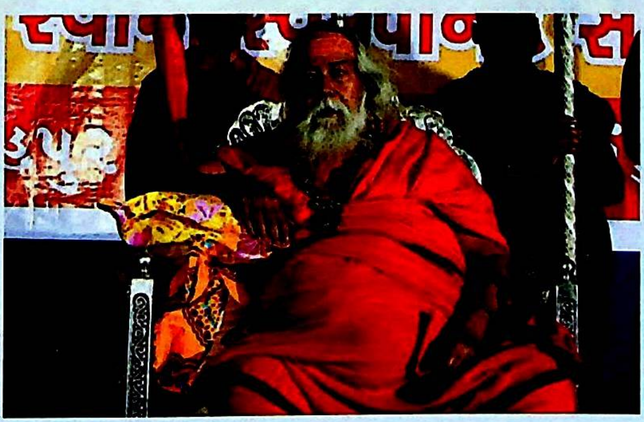
सन् १९८५ से १९८८ तक गुजरात में तीन वर्ष तक अकाल पड़ा, जिससे गुजरात का पशुधन चारे के अभाव में समाप्तप्राय हो जाने की स्थिति में आ गया, तब पूज्य महाराजश्री ने ५ मालगाड़ियों से लगभग एक करोड़ का चारा देश के अन्य भागों से गुजरात भिजवाया ।

रामजन्मभूमि के प्रश्न पर पूज्यश्री ने हिन्दुओं की अस्मिता एवं धार्मिक अधिकारों को केन्द्र बनाकर 'रामजन्मभूमि पुनरुद्धार समिति' के तत्त्वाधान में एक आन्दोलन खड़ा किया । इसी कारण पूज्य महाराजश्री को गिफ्तार भी होना पड़ा । चित्रकूट, झौंतेश्वर और फतेहपुर के विराट् साधु महात्मा सम्मेलनों के द्वारा आपने राममन्दिर निर्माण के विचार को सन्त समाज में व्यापक समर्थन व ठोस आधार प्रदान किया । अन्ततः शृङ्गेरी में चतुष्पीठ सम्मेलन के द्वारा आपने इस चिन्तन को संकल्प के रूप में गठित कर सनातन धर्म के व्यापाक समर्थन की आधार भूमि खड़ी कर दी । महाराजश्री का प्रारम्भ से ही मानना है कि रामजन्मभूमि के मुद्दे को आस्था से हटाकर राजनीतिक मुद्दा न बनाया जाय । इसलिये आपने चारों शङ्कराचार्यों सहित ऐसे सन्तों को लेकर श्रीरामजन्मभूमि

रामालय न्यास का गठन किया जो राजनीति से दूर हटकर राममन्दिर निर्माण हेतु तत्पर है । पूज्य श्री आज भी रामजन्मभूमि, कृष्णजन्मभूमि, और काशी विश्वनाथ के उद्धार हेतु सतत प्रयत्नशील हैं ।

एतदतिरिक्त [illegible] में महाराजश्री द्वारा अनेक नूतन मन्दिरों का निर्माण, अनेक प्राचीन [illegible] का जीर्णोद्धार, अनेक संस्कृत विद्यालय, बाल विद्यालय, आयुर्वेद औषधालय, अनुसंधानशाला, आश्रम, आदिवासी शाला, गौशाला और अन्नक्षेत्र जैसी [illegible] संपादित हो रहीं हैं तथा आप स्वयं भी अनवरत भ्रमण करते हुए [illegible] का सम्यक् संचालन वह धर्मप्रचार कर रहे हैं । ऐसे पुनीत कार्यों से युक्त शङ्करावतार पूज्य गुरुजी के चरणों में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. शिवजी उपाध्याय द्वारा विरचित इन पंक्तियों के द्वारा कोटिशः वन्दन ।

मध्याञ्चलीय नरसिंहपुरस्थ राज-
राजेश्वरीभगवतीसुविशालधाम ।
निर्माप्य किञ्च शतशः परिकल्प्य संस्थाः
स्वामिन् ! मनुष्यकुलमङ्गलमातनोषि ।।
अद्याभिनन्द्य करपात्रयतीश्वरस्या-
शीर्वागुदित्वरतदात्ममहात्मवर्यम् ।
पीठद्वयाधिपतिविश्वगुरुस्वरूपा-
नन्दश्रियं यतिवरं प्रमुदं व्रजामः ।।



विषय सूची



शान्ति, सौख्य की जननी है

यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने सुखरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए शान्ति की खोज करता है। उसकी यह गवेषणा जीवन के अथ से लेकर इति तक चलती रहती है किन्तु कदाचित् ही किसी को उसकी अनुभूति हो पाती है। सभी प्राणी पूर्वजन्म के संस्कारों को साथ लेकर ही जन्म लेते हैं। प्रारम्भ में संस्कार अनुद्‌बुद्ध दशा में रहते हैं पर उद्बोधक सामग्री के उपस्थित होने पर वे विविध वासनाओं का निर्माण करते हैं। प्राणी का देह, देश, काल, परिस्थिति, सम्पर्क और प्रारब्ध भोग ही संस्कारों को जाग्रत् करने वाली सामग्री है। इन्हीं संस्कारों से प्रेरित होकर वह किसी प्राणी, पदार्थ, अवस्था या परिस्थिति में सुख वृद्धि करके उसी में अपनी वासना दृढ़ कर लेता है। जिसकी वासना दृढ़ हो जाती है वही जीवन का लक्ष्य बन जाता है। फिर तो वह इसी के आस-पास घूमता रहता है।

इस प्रकार के लक्ष्य की प्राप्ति बहुत दुर्लभ नहीं है। बहुतों को लम्बी प्रतीक्षा और प्रयत्नों के पश्चात् तथा अनेकों को सहज ही उसकी प्राप्ति होती है। अभिप्सित प्राणी, पदार्थ, अवस्था या परिस्थिति की प्राप्ति के पूर्व उसके प्रति धारणा तो वही रहती है कि इनकी प्राप्ति के साथ ही शान्ति की भी उपलब्धि होगी और उसकी खोज पूर्ण हो जाएगी किन्तु अन्वेषक उस अवस्था पर पहुँचता है तब अपनी कल्पना को सर्वथा विपरीत तथा स्वयं को पहले से भी अधिक अशान्त पाता है। उसकी खोज या दौड़ पुनः प्रारम्भ होती है पर इसी प्रकार की कल्पना और इसके सजातीय लक्ष्य की वासना को ही आगे करके सारा संसार मृग-तृष्णा के पीछे प्रबल वेग से दौड़ रहा है। कौरवों की सभा में दुःशासन द्वारा अपमानित होने पर फैले हुए केशों को दिखलाकर द्रौपदी ने कहा था कि अब मैं इस भवन में तभी आऊँगी जब कौरवों की स्त्रियों के केश भी वैधव्य के कारण इसी प्रकार विकीर्ण होंगे और वे भी मेरे ही समान घरों से निकलकर गङ्गा स्नान के लिए जाएँगी। कौरवनारियों की यह अवस्था या परिस्थिति द्रौपदी का लक्ष्य बन गई। द्रौपदी इसे भूली नहीं। पाण्डवों की ओर से दूत बनकर दुर्योधन की सभा में जाते समय वासुदेव को उन्हीं केशों का स्मरण

कराया था। पार्थसारथी कृष्ण का कृष्णा के प्रति अनुग्रह था। कौरवों को अपने अत्याचार का फल भोगना पड़ा। अभिमानी दुर्योधन सैन्य-क्षय हो जाने पर रणक्षेत्र से पैदल गदा लेकर भागा, व्यास सरोवर में छिपा और अन्त में भीम द्वारा गदायुद्ध में मारा गया। कौरव कुल-बन्धुओं की वही दशा हो गई। द्रौपदी का लक्ष्य तो पूर्ण हो गया पर उसे क्या मिला ? इसी बीच उसके पाँच पुत्र मार डाले गये। उसके पति पाण्डव भी तब तक वृद्ध हो गए। मन को दूसरी चिन्ताओं ने पुनः घेर लिया। महाभारत की यह कथा हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि जिस प्रकार द्वेष के द्वारा निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति का पर्यवसान अशान्ति में ही होता है, उसी प्रकार राग से निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति का भी पर्यवसान अशान्ति में ही होता है।

आज मानव जाति की मानसिक स्थिति चिन्ताजनक हो गई है। हमारे विचार और निश्चय आवेगमय हैं। एक ओर हमारी उद्दाम वासनाओं और दूसरी ओर जीवन की कठिनाइयों ने हमें उद्विग्न बना दिया है। बाह्य परिस्थितियों से हम अत्यधिक प्रभावित हो गए हैं। सबसे अधिक चिन्ता का विषय तो यह है कि हम भारतीयों के अन्तःकरण में जिन उपनिषद् और गीता की शिक्षाओं ने परम्परागत संस्कार के रूप में स्थान ग्रहण कर लिया था और जिन दैवी-सम्पद् के सद्गुणों को हम बहुत कुछ अंशों में आत्मसात् कर चुके थे, उनको अपनी प्रगति का रोड़ा समझकर हम छोड़ते जा रहे हैं।

हमारी समझ में यह बात नहीं आ रही है कि भौतिक उन्नति के चरम शिखर पर अधिरूढ़ होकर भी इन सदिच्छाओं और सद्गुणों के बिना मनुष्य सुख-शान्ति कैसे प्राप्त कर सकेगा ? भौतिक उन्नति की दौड़ में आध्यात्मिक गुणों को खो बैठना बुद्धिमानी नहीं। इस दुरवस्था का कारण है जीवन के शाश्वत लक्ष्य के निर्धारण का अभाव या अनास्था। आज नैतिक शिक्षा की अनिवार्यता का अनुभव अधिकांश विचारक कर रहे हैं किन्तु इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य उनकी दृष्टि में कतिपय सामाजिक अव्यवस्थाओं के निराकरण तक ही सीमित है। किन्तु जब तक हमारी शिक्षा का सम्बन्ध हमारे आध्यात्मिक अभ्युत्थान से नहीं जुड़ेगा तब तक वह हमारे हृदय के गम्भीरतम स्थल को स्पर्श भी नहीं कर सकेगा। वस्तुतः धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षाओं की लौकिक

सप्रयोजनकता का सिद्धान्त मूलतः गलत है । इसमें उपदेष्टा के किसी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध आती है । अतएव सद्गुणों को साधना का अंग बनाकर शाश्वत साध्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील होकर ही हम अपनी रक्षा कर सकते हैं । इसी के द्वारा आनुषंगिक रूप से हमारी वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं का भी समाधान किया जा सकता है ।



भगवत्प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि अनिवार्य

भगवत्प्राप्ति के साधनों में अन्तःकरण की शुद्धि का स्थान प्रमुख है। यह नियम है कि प्राणी के हृदय में शुभेच्छा का जागरण चित्तशोधन से ही होता है। यज्ञ, दान और तप चित्तशुद्धि द्वारा ही तत्त्वजिज्ञासा के उदय में सहायक होते हैं। भगवत्पादपद्मानुरक्ति और निष्ठा का भी आधार यही है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी को सिद्धि बतलाया है –

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः"। (गीता ३/२०)

"सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे"। (गीता १८/५०)

चित्त के अपरिपाक के कारण भगवत्प्राप्ति के निकट पहुँचने पर भी विवश होकर मनुष्य को लौटना पड़ता है। देवर्षि नारद ने व्यास जी को अपने पूर्वजन्म का इतिहास सुनाते समय उस अवस्था के साधनक्रम का भी वर्णन किया है। वे कहते हैं– 'जब मैंने सर्पदंश से माता की मृत्यु का समाचार सुना तो मुझे शोक नहीं हुआ। इस घटना को मैंने भक्तों का कल्याण चाहने वाले प्रभु का अनुग्रह समझा और घर से निकल कर उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। स्फीत-जनपद, खेट-खर्वट, वाटी-उद्यान आदि पार करते हुए एक गहन वन में पहुँचा। उस निर्मनुज अरण्य में एक स्वच्छ जल से परिपूरित सरोवर के निकट वृक्ष की छाया में बैठकर सन्यासियों के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से भगवान् के चरण कमलों का ध्यान करने लगा। भाव-निर्जित चित्त से ध्यान करते-करते धीरे-धीरे मेरे हृदय में भगवान् का प्रादुर्भाव हो गया। आनन्द के समुद्र में लीन होने के कारण मुझे शरीर और संसार का भान ही न रहा। किन्तु जब भगवान् मेरे हृदय से एकाएक तिरोहित हो गए तो मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया। पुनः उस मूर्ति को हृदय में लाने का असफल प्रयत्न करने लगा। उसी समय आकाशवाणी ने मुझसे कहा– 'ऋषे ! खेद मत कीजिए, इस जन्म में आप मुझे नहीं देख सकेंगे। अपरिपक्व हृदय वाले कुयोगियों को मेरा दर्शन दुर्लभ है। अभी आपको जो दर्शन दिया गया था उसका उद्देश्य आपके चित्त को आलम्बन देकर अपनी ओर अभिमुख करना था'। देवर्षि नारद के इस जीवन वृत्त से

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। उद्देश्य की सिद्धि चित्त की शुद्धि का प्रथम सोपान है। आजकल शान्ति, समाधि, योग, नैतिकता आदि की चर्चा तो होती है पर इन सबका उद्देश्य प्रायः लौकिक ही रहता है। सदाशयता की तो बात ही नहीं होती। लक्ष्य के सम्बन्ध में सुलझे हुए विचारों का अन्तःकरण में स्थान बना लेना पूर्व-पुण्यों के परिपाक किंवा भगवत्कृपा से ही सम्भव होता है। उच्चकोटि के कर्म भी भावों की अ[illegible] के कारण निम्नकोटि के बन जाते हैं। एक श्लोक है -

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्क-
स्तान्येव भावोपहतानि कल्कः॥ महाभारत १/१/२७५

अर्थात् तप, अध्ययन, वेदविहित कर्म कल्क अर्थात् पाप तो क्यों होंगे। बलात् धन का अपहरण भी कल्क नहीं है किन्तु भावोपहत हो जाने पर यह भी कल्क बन जाते हैं।

दूषित उद्देश्य के कारण हिरण्यकशिपु और रावण का तप तथा मेघनाद का यज्ञ भी दूषित हो गया। श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ-दान-तप-बुद्धि-धृति-सुख-ज्ञान-कर्म तथा कर्ता आदि के सात्त्विक-राजस और तामस भेद भावों के आधार पर ही किए गए हैं।

ध्यान-पूजन-नामसंकीर्तन-सत्संग-साधुसेवा-परोपकार आदि में जितना अधिक समय लगाया जाय उतना ही अधिक समझा जाता है किन्तु यदि इसके पीछे प्रदर्शन की भावना या कोई लौकिक स्वार्थ हो तो इनके परिमाण तथा समय या शक्ति के व्यय का महत्व चला जाता है। शुद्ध भाव से अनुष्ठित होने पर इसका स्वल्पांश भी बहुत बड़ा हो जाता है। वस्तुतः महत्व परिमाण का नहीं गुण का होता है। इसलिए किसी भी सत्कर्म की परीक्षा करते समय हमें यह नहीं देखना है कि वह अल्प है या अधिक। देखना यह है कि उसका कर्ता, कर्म का अधिकारी है या नहीं और अनुष्ठान किस बुद्धि से किया जा रहा है। गीता के अनुसार चित्त का संशोधन मानसिक तप है -

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ (गीता १७/१६)

अर्थात् मन को सदा निर्मल रखना, स्वभाव में सौम्यता, मौन, आत्मनिग्रह और भावसंशुद्धि मानस तप कहलाते हैं । सत्पुरुषों में भावसंशुद्धि की स्वाभाविकता का वर्णन करने वाली मानस की चौपाई है ।

कृषी निवारहि चतुर किसाना । जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ।।

आत्मशोधन के लिए आत्म-निरीक्षण आवश्यक है । आत्म-निरीक्षण करते समय समस्त मनोवृत्तियों के सात्विक, राजस और तामस तीन विभाग करके (यह निश्चित करके कि किस प्रकार की वृत्ति सात्विक होती है किस प्रकार की राजस या तामस) देखना चाहिये कि इस समय अन्तःकरण में किस गुण का वेग है। फिर यह प्रयत्न करना चाहिये कि राजसिक, तामसिक भावों से बुद्धि प्रभावित न होने पावे । बिना इसके अपने दुर्गुण समझना कठिन होता है । जब हमारी बुद्धि दुर्गुणों को दुर्गुण समझकर उनका पक्षपात करना छोड़ देती है तब दुर्गुणों का बल क्षीण हो जाता है और वे क्रमशः नष्ट होने लगते हैं । किन्तु यह सब तटस्थता पूर्वक होना चाहिये अन्यथा गुणों से सम्बन्ध जुड़ने की सम्भावना रहती है ।

अपने दुर्गुण और दूसरों के सद्गुण देखने से भी अन्तःकरण के दोषों का अपनयन और गुणों का आधान होता है । क्योंकि यह नियम है कि जिन सद्गुणों को हम अपने में देखते हैं वे चले जाते हैं । और वे ही हमारे द्वारा दूसरों में देखे जाने पर हमारे भीतर आ जाते हैं । इसलिये बुद्धिमान् पुरुष दुर्गुण अपने देखते हैं और सद्गुण दूसरों के । किन्तु उच्च कोटि का साधक तो गुण-दोष की दृष्टि को ही दोष समझ कर दोनों से ऊपर उठ जाता है । भक्तजन स्वयं के दोषों का सदा अनुसंधान करते हुए अचिन्त्य-अनन्त कल्याण-गुणगणनिलय भगवान् का ही निरन्तर स्मरण करते हैं । यह सभी चित्त-शुद्धि के उपाय हैं ।

कामना ही चित्त की अशुद्धि और सर्वत्र विरक्ति ही चित्त की शुद्धि है । इस कसौटी पर चित्त को कसते रहना आत्मनिरीक्षण है । शुद्ध चित्त से किया गया थोड़ा भजन भी बहुत हो जाता है । कहा है –

तन थिर मन थिर वचन थिर सुरत निरत थिर होय ।
कह कबीर वह पलक ही कलप बराबर होय ।।

साधारण मनुष्य संख्या और समय पर विश्वास रखते हैं किन्तु भगवान् की दृष्टि जाती है साधक की तीव्र अभीप्सा और भाव पर । कामनाओं की निवृत्ति हो जाने पर ही भगवत्प्राप्ति साध्य और कामनाओं की निवृत्ति साधन है । किन्तु कुछ और आगे बढ़कर देखने वाले तो यह कहते हैं कि कामनाओं की निवृत्ति और भगवत्प्राप्ति दोनों सूर्योदय और अन्धकार की निवृत्ति के समान युगपत् ही होती हैं।

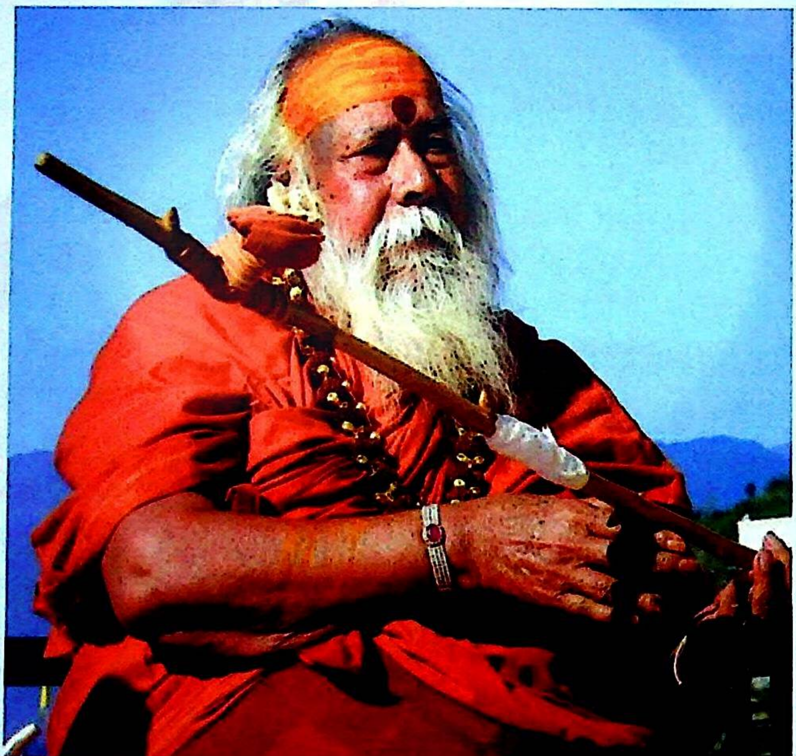
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।

यह इस विषय का निदर्शन है । श्लोक का अर्थ है – निराहार प्राणी के विषय तो छूट जाते हैं पर उसमें उसका राग नहीं छूटता । परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर स्थितप्रज्ञ का राग भी छूट जाता है। भगवत्प्राप्ति के पूर्व रागादि का केवल अभिभव होता है सर्वथा नाश नहीं । इनकी निःशेष-निवृत्ति तो भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार से ही होती है । इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार साधन और कामनाओं पर रागादि दोषों की आत्यान्तिक निवृत्ति ही साध्य है ।

चित्त की क्रीडा स्थली शब्दादि विषयों में राग ही अबोध का चिह्न है, जिस वृक्ष के कोटर में अग्नि हो उसमें हरियाली भला कैसे रह सकती है ? सुख का आधार शान्ति, शान्ति का आधार निर्वासनिकता और निर्वासनिकता का भी आधार भगवत्प्राप्ति है। आजकल बहुत से ऐसे पन्थ बन रहे हैं जो सहज में ही भगवद्दर्शन और समाधि लगवाने की बात करते हैं । भावुकों को वहाँ कुछ दिख सकता है पर यदि उससे वासनायें दूर नहीं हुईं तो उसका कोई मूल्य नहीं है। जो कुछ दिखाया जाता है, वह प्रपञ्च ही है। भगवत्प्राप्ति तो उससे विलक्षण है । अतः श्रेयस्काम पुरुषों को बद्धपरिकर होकर भगवान् का आश्रय लेकर चित्त के ही निराकरण में अपनी समस्त शक्ति लगानी चाहिए । किन्तु सफलता तभी मिल सकती है जब हमारे आचार व्यवहारों में पवित्रता रहे । मनुष्य अपने कर्मों से जितना प्रभावित होता है उतना और किसी से नहीं होता। क्रम है – क्रिया-शुद्धि से भाव-शुद्धि और भाव-शुद्धि से विचार-शुद्धि । सम्यग्विचार से तत्त्वज्ञान और उससे मोक्ष ।

अन्तःकरण के संशोधन का कार्य एकाएक चमत्कार से नहीं होता । जैसे किसी नदी के प्रवाह को मोड़ने के लिये विशेषज्ञ कोसों दूर ऊपर से ही उसको बांधना प्रारम्भ करते हैं तब उनको अपने कार्य में सफलता मिलती है उसी प्रकार चित्त को शुद्ध बनाकर भगवान् में लगाने के लिये सम्पूर्ण जीवन का काया पलट अपेक्षित है । हमारा आहार, सङ्ग, स्नेहास्पद, साहित्य, अभिरुचि आदि सभी में परिष्कार की आवश्यकता है ।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' के सिद्धान्त का स्मरण रखते हुए ही हमें साधना के क्षेत्र में अग्रसर होना चाहिये । यह स्मरण रखना चाहिये कि सबसे निरपेक्ष-मननशील-शान्त-निर्वैर और समदर्शी पुरुष ही भगवदनुग्रहभाजन होता है ।



हमारा जीवन-दर्शन

सुख और शान्ति की खोज का ही नाम जीवन है । किसी भी देश या काल का प्राणी क्यों न हो और वह चाहे विहित या निषिद्ध किसी भी प्रकार के कर्म में संलग्न हो, उसका उद्देश्य सर्वत्र सुख-शान्ति की प्राप्ति ही है । मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों का मूल भी यही है, निष्फल कर्म में कोई भी समझदार प्राणी प्रवृत्त नहीं होता । फल ही सबका इष्ट है । इच्छित को ही इष्ट कहते हैं और इच्छा सुख का ही अनुगमन करती है । अतएव सुख ही सबका इष्ट एवं फल है । कर्म आयास रूप है और आयास दुःखात्मक है । इसलिये प्राणी की उसमें सहज प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु जब उसे यह भान होता है कि कर्म सुख का साधन है तब वह उसमें प्रवृत्त होता है । सुख साध्य और कर्म साधन है । यह नियम है कि प्रवृत्ति का विषय फल न होकर फल की प्रप्ति का साधन होता है । क्योंकि फल सिद्ध है । लक्ष्य या फल में किसी प्रकार का विवाद नहीं, विवाद केवल इष्ट साधन के सम्बन्ध में ही हुआ करता है ।

यह भी निश्चित है कि नित्य सुख ही प्राणी का लक्ष्य है, अनित्य और सीमित सुख नहीं । पशु-पुत्र और स्वर्गादि की इच्छा से कर्मों का अनुष्ठान करने वालों का भी उद्देश्य पशु-पुत्र और स्वर्गादि न होकर उनकी प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला सुख ही होता है । अतएव फल वस्तुतः सुख ही है । यह सीमित सुख जिस परमानन्द सुधासिन्धु भगवान् के तुषार बिन्दु के समान हैं, वे समस्त प्राणियों के परम प्रेमास्पद सर्वान्तरात्मा प्रभु विश्वफल हैं ।

सामान्य सांसारिक प्राणियों और मनोविकारों का अन्धानुकरण छोड़ कर देवदुर्लभ मानव शरीर की सार्थकता के लिये हमें उन्हीं अनन्त और नित्य विश्वफल भगवान् की प्राप्ति के उपाय पर विचार करना चाहिए । इसके लिये हमें सभी प्राणी, पदार्थों तथा उनके साथ अपने सम्बन्धों की समीक्षा करनी पड़ेगी और देखना होगा कि वस्तुतः प्रिय क्या है और अप्रिय क्या है । यथार्थ निष्कर्ष तक पहुँचने के लिये विचारों को मनोविकारों से निर्लिप्त और सूक्ष्म बनाना आवश्यक होता है । इसमें मन और इन्द्रियों का निग्रह तथा चित्त की एकाग्रता की भी आवश्यकता पड़ती है ।

यह नियम है कि उच्चकोटि की अनुभूति उच्चस्तर के अन्तःकरण से ही प्राप्त की जा सकती है। निम्नस्तर के अन्तःकरण के रहते अतुलनीय ऐश्वर्य भी जीव को सुखी नहीं बना सकते, इसीलिये सांसारिक भोगों और आर्थिक समृद्धि से भी वही कुछ लाभ उठा सकता है जिसने उसको धर्मानुकूल वैध उपायों से अर्जित किया हो तथा जिसके उपयोग का प्रकार औचित्य की सीमा का अतिक्रमण न करता हो । यह माना जाता है कि जब मनुष्य सत्फल की प्राप्ति के लिये सत्कर्मों का अनुष्ठान करता है तब उसके उन कार्मों के द्वारा अदृष्ट की उत्पत्ति के साथ उसके फल का भोग करने के लिये आवश्यक चित्त-शुद्धि भी उत्पन्न होती है । जब कर्मों के सीमित और अनित्य फल के लिये भी चित्त-शुद्धि अनिवार्य हो जाती है तब असीमित और नित्य फल के लिये उसकी आवश्यकता सुतराम् है ।

भगवत् प्राप्ति के लिये अपेक्षित साधन अन्तःकरण की पाप की वासनाराहित्य-रूप निर्मलता और एकाग्रता का सम्पादन करने के लिए यथाधिकार कर्म एवं उपासना का अनुष्ठान अत्यावश्यक है ।

कुछ लोगों के मन में चित्त-शुद्धि के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति देखी जाती है । वे पूछते हैं कि भगवत् प्राप्ति से चित्त की शुद्धि होती है या चित्त की शुद्धि से भगवत् प्राप्ति ? कहना होगा कि भगवत् प्राप्ति से चित्त की शुद्धि हो सकती है । भगवत् प्राप्ति के बिना चित्त की शुद्धि नहीं होती । इसीलिये तो हम भगवत् प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं । वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार भगवत्स्वरूप साक्षात्कार ही भगवत् प्राप्ति है । भगवत् साक्षात्कार तत्त्वज्ञान को कहते हैं, उसका मुख्य साधन वेदान्त विचार ही है । इसलिये चित्त-शुद्धि का प्रयास छोड़कर विचार ही क्यों न किया जाय ? किन्तु यह ठीक नहीं, बहिर्मुखता और मलिनता तत्त्वज्ञान में प्रतिबन्धक है । अन्तःकरण की पवित्रता के बिना विचार भी शुद्ध नहीं हो सकता।

जिसकी जिह्वा पित्तदोष से दूषित हो जाती है, उसे गुड़ भी तिक्त प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में जब तक पित्तदोष को दूर करके गुड़ की स्वाभाविक मधुरता का उसको अनुभव न कराया जाये, चाहे वह अनुभव कुछ क्षण के लिए ही क्यों न हो, उसकी तिक्तता की भ्रान्ति केवल गुड़ की मधुरता के विचार

मात्र से दूर नहीं की जा सकती ।

चित्त की स्वच्छता और समाधान (एकाग्रता) वह अवस्था है, जिसमें साधक बाह्य विषयों से निरपेक्ष होकर अन्तःसुख का अनुभव कर सकता है । भगवदानन्द की अनुभूति से उसके विषयों में सुख की भ्रान्तिरूप वासना लेश की भी निवृत्ति हो जाती है ।

अतः यह है कि जब साधन के रूप में हमारे सम्मुख सांसारिक विषय और भगवद् भजन दोनों ही उपस्थित होते हैं, प्रवृत्त होने के पूर्व हमें उन दोनों के स्वरूप पर गम्भीरता से विचार कर लेना चाहिये । विचार करके देखने पर पता लगता है कि सांसारिक भोग इष्ट तो नहीं ही हैं, इष्टसाधनता का भी उनमें भ्रम ही है । दूसरी ओर भगवान् के स्वरूप का ज्ञान या भगवद् भजन स्वयं इष्ट है क्योंकि शान्त-स्वच्छ और निर्विषय अन्तःकरण की ब्रह्माकारता को, ज्ञान तथा भगवद्धर्मों से द्रुत अन्तःकरण की भगवदाकारता को भक्ति कहते हैं ; दोनों का ही पर्यवसान सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के स्वरूप में होता है ।

सुख के लिये विषयों के आश्रित होना परतन्त्रता और भगवान् के आश्रित होना स्वतन्त्रता है । परवशता ही दुःख तथा स्ववशता ही सुख की कसौटी है ।

सर्व परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ।।

अर्थात् जो कुछ परवश है वह दुःख तथा जो कुछ स्ववश है वही सुख है। सुख-दुःख का संक्षेप में यही लक्षण समझना चाहिये ।

जीवन की सफलता के लिये हमें साध्य-साधन और विघ्न इन तीनों को भलीभाँति समझकर साध्य को सदा दृष्टि में रखते हुए विघ्नों से बचते हुए साधन में संलग्न रहना चाहिए । स्वयं को पूर्ण समझ कर प्रमाद करना अनुचित है । व्यक्ति के रूप में मनुष्य आजीवन साधक है । सिद्ध तो उसका सहज स्वरूप ही हो सकता है । साध्य के एक होने पर भी सबकी साधना एक सी नहीं होती । व्यक्ति की लौकिक-अलौकिक योग्यता, रुचि और क्षमता के अनुसार साधन भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं । शास्त्रों के आधार पर अपने अनुरूप साधन का निश्चय करके हमें अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का उसके अनुष्ठान में ही उपयोग करना चाहिये । नियमित दिनचर्या, समय का आदर, व्यवहार की

उत्तमता, आहार-शुद्धि, सदाचार, परोपकार और श्रद्धा आध्यात्मिक साधनरूपी भवन की नींव के समान हैं । आध्यात्मिक साधना लौकिक जीवन की उपेक्षा नहीं वरन् जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति का आधार है । जीवन सम्बन्धी उपर्युक्त दृष्टिकोण से भोगों के प्रति उपादेयता बुद्धि के हट जाने पर व्यक्ति में स्वार्थपरायणता नहीं रह सकती । और जिसके अन्तःकरण से क्षुद्र स्वार्थ निकल गया उसके जीवन का प्रत्येक क्षण, उसकी क्षमता और देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की चेष्टा लोक-कल्याणकारी बन जाती है ।



जीवन की सार्थकता

भगवत्प्राप्ति से ही मनुष्य देह की सार्थकता होती है । पूर्ण जीवन वही है जिसका पर्यवहन भगवत्स्वरूपानुभूति में हो । अनन्त सत् , अनन्त बोध और अनन्त सुख भगवान् का स्वरूप है । सर्वव्यापक होने पर भी हृदय में विशेष रूप से अभिव्यक्त होने के कारण उनको सर्वभूतगुहाशय अर्थात् समस्त प्राणियों की हृदयरूपी गुफा में निवास करने वाला कहा जाता है । जिस प्रकार सूर्य का आलोक व्यापक होने पर भी जल और कांच आदि में अधिक स्पष्ट होकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार भगवान् सर्वत्र समरूप से अवस्थित होने पर भी अन्तःकरण में अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं ।

किन्तु जैसे जल या दर्पण के मलिन होने पर सूर्यालोक सुस्पष्ट नहीं हो पाता, उसी प्रकार अन्तःकरण में जब राजसिक, तामसिक भावों की बहुलता से मलिनता बढ़ जाती है तब भगवत्स्वरूप की सुस्पष्ट अनुभूति नहीं होती । सत्वगुण के उत्कर्ष से जब राजसिक तामसिक मनोभाव दब जाते हैं तब अन्तःकरण में भगवत्साक्षात्कार की योग्यता आती है । जैसे घट का अनुभव करने के लिए अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र के द्वार से घट के देश में आकर घट को अपने भीतर लाती है, उसी प्रकार भगवान् को कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । घट में भरी हुई मृत्तिका या बालू को उसमें से निकाल देना ही उसे आकाश से पूरित करना होता है । उसी प्रकार भगवत्स्वरूप की अनुभूति में बाधक मनोभावों को हटा देना ही भगवान् को हृदय में बसाना है ।

भगवत्प्रेम के लिए भी हमें भगवान् से कोई नवीन सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। सर्व क्षेत्रों के क्षेत्र, प्राणों के प्राण, सर्वभूतान्तरात्मा किसे प्रिय नहीं है ? पर जब भगवान् की परम प्रेमास्पदता को विस्मृत करके जीव संसार में अहन्ता-ममता के कारण प्राणी या पदार्थों के राग-द्वेष में अभिनिविष्ट हो जाता है तब उसका स्वाभाविक भगवत्प्रेम मेघों से सूर्य के समान ढँक जाता है किन्तु जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है भगवत्प्रेम की परिधि विशद होती जाती है । इसलिए परमार्थ के साधक को अपनी पूरी शक्ति अन्तःकरण के शोधन में ही लगानी चाहिये । श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार योगीजन शरीर, इन्द्रिय, मन,

बुद्धि के द्वारा फलासक्ति छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए निरालस्य होकर शास्त्रविहित कर्म करते हैं ।

अन्तःकरण का इन्द्रिय विषय संयोग से उत्पन्न होने वाले सुखों से हटकर भगवत्प्राप्ति के लिए अत्यन्त उत्कंठित हो जाना, उसकी शुद्धि का प्रथम लक्षण है।

अनुकूल विषयों में राग के हटने पर प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष दूर होकर उदासीनता आ जाती है । उदासीन होकर ही संसार को भुलाने में सफलता प्राप्त की जा सकती है । राग-द्वेष के रहते संसार को नहीं भुलाया जा सकता । अपने सुख के लिए बाह्य विषयों के पराधीन हो जाना, सुख के साधक में राग और बाधक में द्वेष की वृद्धि करता है । यही दुःख का मूल और जीवन का बन्धन है। जिस कूप में भीतर का स्रोत नहीं, उसे बाहर के जल से कब तक भरा जा सकता है ? सुख के इसी परावलम्बन ने जीव को दर-दर का भिखारी बना रक्खा है । अन्धकार में टटोलने के समान संसार में सुख की खोज कर रहा है।

सुख के बाह्य भौतिक उपकरणों की परतन्त्रता छोड़कर निरन्तर सुख की अभीप्सा के उदय से राग-द्वेष का बन्धन शिथिल होता है । औदासीन्य सुस्थिर होता है । ऐसी अवस्था हो जाने पर चित्त के समाहित होने में विलम्ब नहीं लगता । सूक्ष्म और एकाग्र चित्त से हृदय में परमात्मा का सहज ही साक्षात्कार हो जाता है ।

भगवत्साक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा है । आध्यात्मिक उन्नति का प्रथम सोपान आत्मनिरीक्षण है । हृदय को शान्त समाहित करके रागादि दोषों से अप्रभावित बुद्धि के द्वारा अपनी स्थिति की समीक्षा का लाभ आत्म-निरीक्षण है ।

व्यवहार और परमार्थ दोनों में ही इसकी आवश्यकता पड़ती है । अपनी वर्तमान स्थिति का बोध और जीवन के यथार्थ लक्ष्य की स्मृति मनुष्य को संसार के प्रवाह में पड़े हुए प्राणियों के अन्धानुकरण से बचाती है । अब हम अहन्ता-ममता में डूबे हुए प्राणियों के दृष्टिकोण या कामक्रोधादि विकारों से आविष्ट बुद्धि के द्वारा अपने सम्बन्ध में सोचते हैं तब हमें अपनी स्थिति का यथार्थ ज्ञान नहीं होता । गीता में एकान्त देश का सेवन और जन समूह में अरति ज्ञान का प्रमुख साधन माना गया है । एकान्त में बैठने से साधक को अपनी एकाकिता का अनुभव होता है तथा जनसमूह में अरति से दूसरों के दृष्टिकोण से

मुक्त होकर अपने सम्बन्ध में विचार का अवसर मिलता है । प्रत्येक साधक को प्रतिदिन थोड़ी देर एकान्त में बैठकर आत्मनिरीक्षण करना चाहिये । थोड़ी देर के लिए सबसे तटस्थ हो जाने पर हमें अपने मनोराज्य के आधार पर अपने मानसिक स्तर का भी पता चलने लगता है । हमें कहाँ पहुँचना है और कहाँ बैठे हैं, उसका बोध आत्मनिरीक्षण से ही होता है ।

जप, ध्यान और साधु-सन्त के संस्कारों को लेकर बैठने पर ही इसमें सफलता मिल सकती है, अन्यथा निद्रा, आलस्य और अनिश्चय की दशा में पड़ने तथा मनोराज्य के प्रवाह में बह जाने की भी इससे सम्भावना है । आलस्य का त्याग, कर्तव्य का निश्चय, अदम्य उत्साह, साधनाभ्यास की निरन्तरता, बुद्धि की निर्मलता और एकाग्रता को लेकर ही हम अपने जीवन को आध्यात्मिक बना सकते हैं । अध्यात्मपरायणता ही नित्य सुखस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के द्वारा सुख के लिए भौतिक विषयों की पराधीनता से छुटकारा दिला सकती है । भौतिक विषयों की पराधीनता ही वैयक्तिक सामाजिक जीवन के असामन्जस्य और अशान्ति का भी मूल है ।

हमें अपने परम्परागत आध्यात्मिक संस्कारों को सत्संग तथा अध्यात्म शास्त्रों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से शक्तिशाली बनाकर अपने इस लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये ।



सार्थक जीवन-दर्शन

"**प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि**" इस गीता-वचन के अनुसार आत्मा की सत्ता अनादि है। उसकी अनन्त सत्ता में जन्म, जीवन और मृत्यु को अत्यन्त क्षुद्र काल में घटने वाली साधारण सी घटना कहा जा सकता है। क्योंकि वह इस दीर्घकाल में अगणित बार जन्म-मरण का अनुभव कर चुका है। किन्तु यही जन्म-जीवन और मृत्यु उस समय असाधारण महत्व ग्रहण कर लेते हैं जब आत्मा मनुष्य देह से सम्बन्धित होकर उसकी ब्रह्मलोकैषणा (अर्थात् वह बुद्धि जो परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ है) का लाभ लेकर अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अन्तर्मुख हो जाता है।

श्रुति कहती है "**यो ह वै गार्गि, एतदक्षरमविदित्वा अस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः**" अर्थात् हे गार्गि! जो इस (अक्षर) अविनाशी परमात्मा को बिना जाने इस लोक से मर जाता है, वह कृपण है। लोक में भी उसको कृपण कहा जाता है जो आवश्यकता पड़ने पर भी अपने धन का व्यय सहन नहीं कर सकता। "**यः सत्यामप्यावश्यकतायां स्वल्पामपि आत्मनो वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपणः**" इस न्याय के अनुसार जो प्राणी अपने शरीर, प्राण, मन, बुद्धि की क्षमता (योग्यता) का परमेश्वर की प्राप्ति के लिए उपयोग करने में संकोच करता है, वह कृपण है। अर्जुन का स्वभाव कार्पण्यदोष से उपाहत हो गया था, उसका भी यही अभिप्राय है। वह स्वजनों के वियोग की आशङ्का में भगवत्प्राप्ति के साधनभूत क्षत्रियधर्म का पालन करने में संकोच कर रहा था। उसका यही संकोच कार्पण्य था। भगवान् ने गीता का उपदेश देकर अर्जुन के इस कार्पण्यदोष को दूर कर दिया।

संसार में अधिकांश व्यक्ति जीवन भर दूसरों का ही अनुकरण करते रहते हैं। उनका भोजन-पान-आवास-परिधान और विचार सब अनुकरणरूप ही हो जाता है। किन्तु उनमें से जो विचारशील होते हैं वे अन्धानुकरण छोड़कर जीवन के उद्देश्य पर विचार करते हैं। उनको अपनी एकाकिता का अनुभव होता है। वे स्वयं लाभ-हानि के आधार पर अपने जीवन को देखते हैं। जो कर्म जीवन के यथार्थ लक्ष्य की ओर ले जाता है, उनकी दृष्टि में वह अनुष्ठेय और जो इसके विपरीत ले जाता है, वह त्याज्य होता है। किसका संग करना चाहिए, किसका नहीं, इसकी भी यही कसौटी होती है। परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए कुछ समय या कर्म लगाकर मनुष्य कृतकार्य नहीं हो सकता।

इसके लिए तो सम्पूर्ण जीवन और सभी चेष्टाओं का समर्पण आवश्यक हुआ करता है। इस प्रकार के समर्पण के बिना भगवत्प्राप्ति की उत्कट उत्कंठा या तीव्र भगवत्तत्त्वजिज्ञासा का ही उदय अशक्य होता है, उद्देश्यसिद्धि तो दूर की बात है।

[illegible]भसंग, [illegible]परायणता, मोक्षशास्त्रों के मनन और आत्मसमीक्षा से परमार्थ-पथ की [illegible] के साथ अपनी वर्तमान स्थिति का बोध होता है। काम-क्रोधादि मनोविकार इस बोध को आवृत कर लेते हैं। मनुष्य भोगवासनाओं के कारण इस मार्ग पर बहुत कुछ आगे बढ़ने के पश्चात् लौट पड़ता है। किन्तु भगवान् की उपासना और निरन्तर जागरूकता से इन सभी विघ्नों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

अभय-अमृत ब्रह्म की जिज्ञासा लेकर इन्द्र और विरोचन ब्रह्माजी के पास गए। दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत का समान रूप से पालन किया और दोनों को एक ही उपदेश मिला '**य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते। एतदभयममृतमेतद् ब्रह्म**' अर्थात् जो यह नेत्र में पुरुष दिखाई पड़ता है यही अभय, अमृत और यही ब्रह्म है। विरोचन ने नेत्र में प्रतिबिम्बित होने वाले मर्त्यदेह को ही ब्रह्म समझकर घर जाकर देह की उपासना प्रारम्भ कर दी किन्तु इन्द्र ने विचार करके पुनः पुनः लौटकर शङ्का का समाधान किया। फलतः वे समझने में समर्थ हो सके कि नेत्र से उत्पन्न रूपाकाराकारित वृत्ति मन अन्तःकरण में अभिव्यक्त होने वाला नित्य चैतन्य ही अभय-अमृत ब्रह्म है।

भोगवासना ने विरोचन के हृदय में विचार का उन्मेष नहीं होने दिया। वह नास्तिक न होते हुए भी परमार्थ-तत्त्व के बोध से वंचित होकर शरीर की उपासना में और दृढ़ता से लग गया। विरोचनमत आज भी जीवित है। अधिकांश व्यक्ति उसी मत का अनुसरण कर रहे हैं। जीवन को सार्थक बनाने के लिए मनुष्य को इस मत से दूर रहना चाहिए। शरीर और इन्द्रियों के वश में न होकर इनको संयम पर कसकर स्ववश करना चाहिए। हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि जीवन एक यात्रा है। निरुद्देश्य गमन को यात्रा नहीं कहा जा सकता। उसी गमन को यात्रा कहा जा सकता है जिसका कोई गन्तव्य हो और जिसको प्राप्त करने की उत्कट उत्कण्ठा यात्री को आलस्य-प्रमाद से मुक्त करके शारीरिक सुख की चिन्ता न करते हुए निरन्तर गतिशील रहने को प्रेरित कर रही है।

क्षणभङ्गुर जीवन का सदुपयोग

सत्य-ज्ञान-अनन्त-आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति ही परमपुरुषार्थ होने से मानवजीवन का परम लक्ष्य है। परमात्मा से अपने सहज तादात्म्य और निरुपाधिक प्रेम को विस्मृत करके सीमित देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि में अहन्ता और देहादि से सम्बन्धित भौतिक सुख के साधन, प्राणियों एवं पदार्थों में ममता के कारण जीवन को अपने में न्यूनता का अनुभव हो रहा है। यह नियम है कि जब तक अन्तःकरण में न्यूनता की अनुभूति रहती है, प्राणी सब कुछ पाकर भी अतृप्त, अशान्त और दुःखी ही रहता है। संसार स्वयं अपूर्ण है इसलिए यह जीवन की अपूर्णता (न्यूनता) को दूर नहीं कर सकता। अनन्त आनन्द की पिपासा को सीमित सत्ता, सीमित बोध और सीमित आनन्द से कैसे मिटाया जा सकता है।

अनन्त भगवान् समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा होने के कारण सबके परम प्रेमास्पद हैं। प्रेम और सुख सदा रहते हैं इसलिए जो सबका परम प्रेमास्पद है, वही सहज सुख का निधान भी है। शब्दादि विषयों की प्राप्ति से अनुभूत होने वाला सुख कृत्रिम और सीमित है। उपलब्धि में परतन्त्रता ही विषयजन्य सुख की कृत्रिमता का कारण है। इन्द्रियों के साथ अनुकूल विषयों के संप्रयोग से जो सुख होता है उसकी अपेक्षा वह सुख सहज है जो कामनाओं की निवृत्ति और अन्तःकरण में सत्वगुण के उत्कर्ष से अनुभूत होता है किन्तु यह भी एक चित्त की अवस्था है, अतः इससे भी सहज भगवत्सुख है क्योंकि भगवत्तत्त्व सदा सर्वत्र सर्वरूप में अवस्थित है।

परमात्मा के स्वरूप साक्षात्कार में सक्षम बुद्धि मानव शरीर में ही है। इसलिए हमें अपने इस दुर्लभ शरीर को भगवत्प्राप्ति के साधनानुष्ठान में विनियुक्त करना चाहिये। जीवन के प्रत्येक क्षण की उपयोगिता और दुर्लभता को ध्यान में रखते हुए साधना में निरन्तर निरत रहना उसकी सार्थकता है। उसी जीवन को साधनामय कहा जा सकता है, जिसमें साध्य, साधन और विघ्न को ठीक-ठीक समझकर साध्य का स्मरण, साधना का अनुष्ठान और विघ्नों से बचने का प्रयत्न किया जाता है।

साध्य भगवान् हैं, कुछ लोग अर्थ-काम को साध्य और भगवान् को इनकी प्राप्ति का साधन मानते हैं किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य भगवान् को ही साध्य या इष्ट समझते हैं । मन और इन्द्रियों का संयम, सदाचार, भूतदया, अहिंसा और कर्मों-भावों और विचारों की शुद्धि तथा इनकी एकरूपता साधना की आधारभूमि है। [illegible], [illegible] और स्वधर्म पालन साधन हैं । निषिद्धाचरण, आलस्य, प्रमाद, राग द्वेष, पाखण्ड आदि विघ्न हैं ।

नियमित दिनचर्या से आलस्य प्रमाद को दूर किया जा सकता है । सद्ग्रन्थों के अध्ययन, मनन और साधुसंग से विघ्नों के निराकरण और साधनानुष्ठान में प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य देह की दुर्लभता और क्षणभंगुरता को देखते हुए आलस्य-प्रमाद छोड़कर भगवद्प्राप्ति को अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझकर उन्हीं को अपना इष्ट जानकर कर्मों, भावों और विचारों को विशुद्ध एवं परस्पर समन्वित करते हुए हमें सदा सावधान होकर जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करके इसको सार्थक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये ।



साधनामय व्यक्तित्व ही कल्याणकारी

वर्तमान समय में आध्यात्मिक साधना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। न केवल पारलौकिक सुख या मोक्ष के लिए अपितु इस लोक में भी बाह्यजगत् के साथ अपने सम्बन्ध को व्यवस्थित एवं कल्याणकारी बनाने में आध्यात्मिक साधना से प्रसूत गुणों, मानसिक स्तर एवं दृष्टिकोण की अपेक्षा है । क्योंकि बिना मानसिक सन्तुलन के केवल भौतिक समृद्धि या सुख सुविधाओं से मनुष्य को लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है । कुछ लोगों की धारणा है कि अध्यात्मवाद, पलायनवाद का ही रूपान्तर है। संसार की विषम परिस्थितियों से घबराकर उनका सामना करने में अक्षम प्राणी अध्यात्म का आश्रय लेता है। एक भारतीय विद्वान् ने समस्त भारतीय दर्शनों की इसलिए समालोचना की है कि चार्वाक् को छोड़कर यहाँ के अन्य सभी दर्शन इस लोक को दुःखमय समझकर परलोक या मोक्ष में ही सुख शान्ति का स्वप्न देखते हैं । जिसके फलस्वरूप वर्तमान जीवन से उदासीनता उत्पन्न होती है, जो लौकिक उन्नति में बाधक है। उनकी दृष्टि में भारत की अवनति का कारण यही दृष्टिकोण है । किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि बहिर्मुखता प्राणी में स्वाभाविक है । अहन्ता-ममता से ग्रस्त प्राणी मात्र कुछ उपदेशों से परिवर्तित नहीं हो सकता है। क्या भारतीय जन समुदाय अपनी अवनति के दिनों में आध्यात्मिक विचारों एवं शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, समाधान जैसे साधनों से अपने अन्तःकरण को आप्यायित कर सका है ? इतिहास और अनुभव हमें इस निष्कर्ष पर ले जाते हैं कि राष्ट्र या व्यक्ति का पतन तभी होता है जब उसमें आसुरी सम्पत् बढ़ जाती है । काम-क्रोध और लोभ के कारण वह अत्यन्त स्वार्थपरायण हो जाता है । उन्नति की इच्छा रहते हुए भी आज यदि हम अनैतिकता और भ्रष्टाचार से स्वयं को मुक्त नहीं कर पा रहे हैं तो इसका कारण हमारा जीवन के प्रति निरा भौतिकवादी दृष्टिकोण एवं उससे उत्पन्न दुर्गुण हैं ।

नैतिकता और सदाचार की बातें आज भी बहुत होती हैं पर उसके मूल में जो विचार-धारा और साधना अपेक्षित होती है, उसके अभाव में उनका कोई मूल्य नहीं है ।

आवश्यकता इस बात की है कि आध्यात्मिक उपलब्धि को साध्य बनाकर भौतिक उपलब्धियों को उससे समन्वित किया जाय । यह अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के परस्पर समन्वय से ही सम्भव हो सकता है ।

इस उद्देश्य की सिद्धि तप से ही हो सकती है । धर्म मनुष्य को तपस्वी बनाता है । मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है । "**मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः**" काठकोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं–

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।

अर्थात् जो दुराचार (निषिद्ध कर्म) से विरत नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं है , जिसका मन चञ्चल है और जो समाधि से किसी अवान्तर फल (पुण्यलोक) की प्राप्ति चाहता है, वह प्रज्ञान के द्वारा परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।

इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा है – ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर उनकी हत्या कर दी, इसी कारण वो पराक् (बाह्यजगत्) को ही देख सकती हैं, अन्तरात्मा को नहीं । कोई धीर पुरुष ही अमृतत्व को प्राप्त करने के उद्देश्य से इन्द्रियों को लौटाकर आत्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है ।

आध्यात्मिक साधना में ध्यान की महिमा सर्वत्र स्वीकृत है । कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग सभी का आध्यात्मिक साधना में समावेश होता है । इन सभी में ध्यान जुड़ा हुआ है । सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर "**तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**" यह कर्मयोग है । स्नेह से द्रवित अन्तःकरण की भगवदाकारता भक्ति है। विजातीय प्रत्यय तिरस्कार पूर्वक सजातीय प्रत्यय का प्रवाह रूप निदिध्यासन ज्ञानयोग है । विचार करने पर पता लगता है कि सभी में ध्यान का प्राधान्य है । जैसे मधुकरराज (रानी मक्खी) के पीछे अन्य सभी मक्षिकायें चलती हैं, उसी प्रकार ध्यान में मन के पीछे इन्द्रियों का रहना आवश्यक है । इसलिए माना गया है कि आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी और मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उनके मार्ग हैं । जिस रथी आत्मा का बुद्धि रूपी सारथी सावधान होकर मन की लगाम से इन्द्रिय रूपी घोड़ों को नियन्त्रित रखता है,

वही विष्णु के परमपद को प्राप्त करता है । किन्तु जैसे अनियन्त्रित घोड़ों और असावधान सारथी वाले रथी का रथ किसी भयानक गर्त में जा गिरता है, उसी प्रकार प्रमत्त बुद्धि और अजितेन्द्रिय प्राणी दुर्गति को प्राप्त करता है । इससे बचने के लिए भगवद्प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाकर अपनी अभिरुचि और अधिकार के अनुसार किसी साधना को स्वीकार करके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को साधनामय बनाना चाहिये । कुछ समय निकालकर सत्संग, स्वाध्याय और भगवच्चिन्तन में लगाना चाहिए । नियमित रूप से ध्यान का भी अभ्यास करना चाहिए, इससे आत्मसमीक्षा के लिए अवसर मिलता है । अपनी वास्तविक, मानसिक स्थिति का ज्ञान होता है । भावों के संशोधन की आवश्यकता की अनुभूति और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है ।

आध्यात्मिक साधना में कुछ समय के लिए व्यवहार की निवृत्ति और चित्त की एकाग्रता अपेक्षित होती है । पर यह वास्तविक जगत् से पलायन न होकर बाह्य परिस्थितियों को व्यवस्थित करने तथा उनसे मन को अप्रभावित रखने की क्षमता के संपादन का सर्वप्रथम उपाय है । जैसे शरीर, इन्द्रिय और मन को और अधिक कार्यक्षम और स्फूर्तियुक्त बनाने के लिए प्रगाढ़ निद्रा अपेक्षित होती है, उसी प्रकार व्यवहार और अन्तःकरण को व्यवस्थित एवं सन्तुलित रखने के लिए सत्संग, स्वाध्याय, धर्माचरण एवं ध्यान आदि साधनों की अपेक्षा है ।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को लक्ष्य की सिद्धि में विश्वास रखते हुए परमेश्वर की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प के साथ सत्पथ पर आरूढ़ होना चाहिए ।

साधनामय व्यक्तित्व ही अपने और विश्व के लिए कल्याणकारी होता है ।



आध्यात्मिक विकास के आधार

अध्यात्मचिन्तकों का यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि सुख-शान्ति का आधार हमारे अन्तःकरण में है, बाहर नहीं । अपने भीतर सुख-शान्ति की खोज न करके बाहर भटकना वैसा ही है जैसे किसी पिपासु का काई से ढके निर्मल जल को छोड़कर मृग-तृष्णा की ओर दौड़ना । जिस हृदय में स्वाभाविक आह्लाद नहीं है, उसे बाह्य परिस्थितियों और पदार्थों से आह्लादित नहीं किया जा सकता । जब मन प्रसन्न होता है तब सभी कुछ अच्छा लगता है किन्तु जब वह खिन्न होता है तब सब कुछ तुच्छ प्रतीत होता है ।

मन की प्रसन्नता का हेतु सत्त्वगुण का उत्कर्ष माना जाता है । निर्मल और निस्तरङ्ग मन में ही सुख का आविर्भाव होता है । रजोगुण, तमोगुण के प्रबल रहते मन स्वच्छ और निश्चल नहीं हो सकता । हमारे शास्त्रों में परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति के चार साधन माने गये हैं-कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग। इन साधनों में क्रमशः उद्देश्य की शुद्धि, भगवद्विषयक निर्मल अविरल प्रेम, चित्त की स्वच्छता और एकाग्रता तथा वैराग्य, समाधान एवं सूक्ष्म विचार अपेक्षित हुआ करते हैं । सभी में सत्वगुण का उत्कर्ष आवश्यक है क्योंकि अन्तःकरण के भावों और विचारों की पृष्ठभूमि सत्त्वादि गुण ही हुआ करते हैं।

जो साधक किसी प्रकार की नियमित साधना करते हैं कभी तो उनका ध्यान अच्छा लगता है और कभी नहीं । इसका कारण सत्त्वगुण की न्यूनाधिकता ही है। जिस समय मन में सात्विकता होती है, उस समय भजन में आनन्द आता है और जिस समय मन राजसिक, तामसिक भावों से अभिभूत हो जाता है, उस समय प्रयत्न करने पर भी आनन्द की अनुभूति नहीं होती । यद्यपि जीव अपरिमित ज्ञान और शक्तियों का आश्रय है तथापि रजोगुण और तमोगुण से उनके अभिभूत होने के कारण उनकी प्रतीति नहीं होती । अतएव आध्यात्मिक साधना का प्रारम्भ सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से ही होता है ।

अन्तःकरण के दोषों का अपनयन करके उसमें उत्तम गुणों का आधान करते रहना ज्ञानवृद्ध के स्वभाव का अङ्ग हुआ करता है । कहा भी है -

कृषी निवारहिं चतुर किसाना ।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ।।

श्रीमद्भावद्गीता में मन की निर्मलता, सौम्यता, मौन, आत्मनिग्रह और भावसंशुद्धि को मानसिक तप बतलाया गया है । मानसिक तप के लिए आत्मनिरीक्षण बहुत आवश्यक है । जिस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से दूसरों के गुणदोषों की समीक्षा की जाती है, उसी प्रकार अपने गुणदोषों की समीक्षा को आत्मनिरीक्षण कहा जाता है ।

आत्मनिरीक्षण से ही बुद्धिमान् पुरुष को अपनी यथार्थ स्थिति का ज्ञान होता है । अपनी मनःस्थिति का अध्ययन गुणों के माध्यम से करना सुगम है । हम अपने अन्तःकरण के समस्त भावों और विचारों को सात्विक, राजस और तामस इन तीन श्रेणियों में विभक्त करके देखें । पहले यह निश्चय कर लें कि किस गुण के उत्कर्ष होने पर किस प्रकार के भावों और विचारों का मन में उदय हुआ करता है । योग दर्शन के अनुसार मन की शान्त, घोर और मूढ़ यह तीन अवस्थायें होती हैं जो क्रमशः सुख, दुख और मोह का कारण हैं ।

जिस समय मन रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत होता है, उस समय बुद्धि कामक्रोधादि विकारों का पक्ष करने लगती है । ऐसी अवस्था में किसी भी निर्णय को क्रियान्वित नहीं करना चाहिये क्योंकि यह निर्णय सदोष होता है । सदोष निर्णय से किये गये कर्मों का परिणाम दुःखद होता है । शान्त और सन्तुलित मन से किया गया निर्णय और तदनुसार कार्य ही निर्दोष और कल्याणकारी होता है । जिस समय जो गुण उद्भूत होता है, उस समय उसके लक्षण गीता में इस प्रकार हैं – जब इस देह में ज्ञानेन्द्रियों एवं मन में प्रकाश उत्पन्न हो जाये, ज्ञान एवं सुख हो तब सत्त्व की वृद्धि समझनी चाहिये । रज के बढ़ने पर काम्य-निषिद्ध एवं लौकिक कर्मों में प्रवृत्ति, हर्ष-रागादि तथा इच्छाओं का उदय होता है तथा तम के बढ़ने पर अविवेक, आलस्य, प्रमाद, (कर्तव्य का विस्मरण) और विपरीत ज्ञान होते हैं । संक्षेप में सत्त्व गुण को, रज कर्म को तथा तम ज्ञान को ढककर प्रमाद में संश्लिष्ट करता है । काम-क्रोध की उत्पत्ति रजोगुण से बताई जाती है।

हमें सब लक्षणों के अनुसार यह देखना चाहिये कि हमारा मन कब कितना रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत रहता है । तदनन्तर रज और तम को हटाकर सत्त्व को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रद्धा-आहार यज्ञ, तप, दान, त्याग, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि, धृति, सुख सभी के तीन रूप बतलाये गये हैं । उनमें से तामसिक एवं राजसिक का त्याग करके सात्विक का ही ग्रहण श्रेयस्कर है । इस प्रकार रज से तम को, सत्त्व से रज तथा तम को हटाते हुए उपशम से सत्त्व का भी त्याग करके गुणातीत की अवस्था प्राप्त की जा सकती है ।

मनुष्य के आहार और कर्मों का उसके मन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यह निश्चित है - **"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः ।। स्मृतिशुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"** अर्थात् आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि, चित्त की शुद्धि से ध्रुवास्मृति और स्मृति की शुद्धि से समस्त ग्रन्थियों का विप्रमोक्ष होता है ।

जो अन्न खाया जाता है, उसके तीन भाग बनते हैं । स्थूल भाग मलमूत्र के रूप में परिणत होकर शरीर के बाहर चला जाता है । मध्यम भाग रस-रक्त बनता है और सबसे सूक्ष्मभाग होता है, वह मन बनता है। इसलिए ऐसा ही आहार करना चाहिए जिससे उत्तम मन का निर्माण हो सके । थोड़ा सा भी अशुद्ध आहार मन को विकृत बना सकता है ।

हमारे मन पर संग और साहित्य का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है । अतएव दुर्जनों से बचते हुए सज्जनों का संग करना चाहिये । मनोविनोद के लिये भी असत् साहित्य का अध्ययन अहितकर है । मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है । उसके आसपास के वातावरण और उसके चिन्तन का उसके व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ होता है ।

संसार में गुणदोष भरे पड़े हैं । हमें हंस के समान विकार रूपी जल का त्याग करके सद्गुण रूपी दुग्ध का ही ग्रहण करना चाहिए ।

आध्यात्मिक विकास में आदर्श का उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है । आदर्श शीशे को कहते हैं। जैसे मनुष्य दिन में अनेक बार शीशे में अपना मुख देखकर स्वयं को सजाता संवारता है, उसी प्रकार हमें सत्य रूपों को जीवन एवं उनके कर्मों तथा विचारों को आदर्श बनाकर अपनी ओर देखना चाहिए कि हम कितने अंश तक उसके अनुरूप बन सके हैं । अपने जीवन की कठिन समस्याओं के हल में भी उनके चरित्र नहीं हैं, जिसकी इन्द्रियाँ और मन अनियंत्रित हैं, जो

ध्येयनिष्ठ नहीं हैं वह केवल बुद्धि वैभव से परमेश्वर को नहीं पा सकता।

एकान्त में बैठकर स्वयं को स्वयं के दृष्टिकोण से देखना चाहिये। हम प्रायः दूसरों के ही दृष्टि-कोण से स्वयं को देखते और समझते हैं। यह स्थिति हमें तत्त्व दर्शन से दूर ले जाने वाली है। जो स्वयं को दूसरों के दृष्टिकोण से देखता है, उसके ऊपर निन्दा-स्तुति का प्रभाव पड़ता है, जिससे उसका मन विचलित और अशान्त हो जाता है। स्वयं को भी दूसरों के गुण दोषों के चिन्तन में नहीं लगाना चाहिये। जो व्यक्ति दूसरों के गुणदोषों का चिन्तन करता है, वह परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

अपने अन्तिम लक्ष्य को सदा दृष्टिगत रखकर कार्य करना चाहिये। हमारा कोई भी कार्य ऐसा न हो, जो हमें अपने वास्तविक लक्ष्य से दूर ले जाये। प्रमाद मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। अप्रमत्त होकर सतत जागरूक और सावधान रहना ही आध्यात्मिक जीवन है। हमारे छोटे-छोटे कर्मों से हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसलिये उनमें भी सावधानी रखनी चाहिये।

इन्द्रियों के प्रियविषयों में राग, पतन का कारण है। पर राग से भी नियम बलवान् होता है। साधक को अपने नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिये।

संक्षेप में यही वह आधार है, जिनके द्वारा किसी भी प्रकार की साधना को सफल बनाया जा सकता है।



दिशाबोध की आवश्यकता

सुख की प्राप्ति प्राणिमात्र का चरम लक्ष्य है, किन्तु वही सुखी हो सकता है, जो शान्त हो । '**अशान्तस्य कुतः सुखम् ?**' शान्ति के लिए अन्तःकरण की प्रसन्नता और निर्विकारिता आवश्यक है । उसी मन को प्रसन्न कहा जा सकता है जो प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और स्वच्छ हो तथा जिसमें राग-द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि कषाय न हों । विपरीत परिस्थितियाँ जिसे विचलित या उद्वेलित करने में असमर्थ हों, इस प्रकार के सुसंस्कृत हृदय के निर्माण के लिए आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता पड़ती है । कुछ लोग कहते हैं कि विकृत होना मन का स्वभाव है अतः साधना अकिंचित्कर है किन्तु विचार करने पर पता चलता है कि स्वभाव से साधना प्रबल है क्योंकि मनुष्य जो कर्म करता है, उसका उसके अन्तःकरण में संस्कार पड़ता है । क्रियाकाल के पश्चात् क्रिया के विनष्ट हो जाने पर भी संस्कारों का विनाश नहीं होता । निरन्तर भले-बुरे कर्म करने से मानव मन संस्कारों का पुञ्ज बन जाता है जो कालान्तर में उसका स्वभाव या प्रकृति का रूप ग्रहण कर लेता है ।

वे ही संस्कार समय-समय पर उद्बुद्ध होकर मन में विभिन्न भावों और विचारों को लाकर तदनुकूल शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त करते हैं । किन्तु जिस प्रकार मिट्टी और पानी के मिलने पर ही कुम्भकार घट बनाने में समर्थ होता है, उसी प्रकार कर्ता का स्वभाव (प्रकृति) और उसके राग-द्वेष मिलकर ही उसकी शुभाशुभ प्रवृत्ति के कारण बनते हैं । कोई भी कारण अपने सहकारी से मिलकर ही कार्य उत्पन्न कर सकता है, जैसे मिट्टी जल रूप सहकारी से मिलकर ही घट बना सकती है। उसी प्रकार प्रकृति राग-द्वेष रूपी सहकारी से मिलकर ही प्रवृत्त कर सकती है । पानी न मिलने पर अकेली मिट्टी कुछ नहीं कर सकती । वैसे ही राग-द्वेष के बिना केवल प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती । अतः स्वभाव या प्रकृति का निरोध कठिन होने पर भी साधना के द्वारा राग-द्वेष पर नियन्त्रण स्थापित करके प्रकृति का निरोध करना भी संभव है ।

विचारशील पुरुष को सर्वप्रथम आत्मसमीक्षा के द्वारा अपनी मानसिक स्थिति का यथार्थज्ञान प्राप्त करना चाहिए और फिर अनपेक्षित भावों के प्रशमन

और अपेक्षित गुणों के आधान का प्रयत्न करना चाहिए। नियमित रूप से अन्तःकरण की समीक्षा, सदाचार, सत्संग, ईश्वराराधन या आत्मचिन्तन के द्वारा अन्तःकरण को दृढ़ एवं सुस्थिर बनाया जा सकता है । लौकिक व्यवहार करते समय भी हृदय में शान्ति और सन्तुलन बनाये रखने के लिए प्रतिदिन कम से कम एक बार मन को निर्मल, निरुद्विग्न बनाना अत्यावश्यक है, जो साधना और सत्संग से ही संभाव्य है ।

सर्प और नेवले की कथा प्रसिद्ध है – नेवले और सर्प के युद्ध में एक सर्प के काटने पर नेवले के शरीर में विष चढ़ने लगता है तब नेवला दौड़कर विषनाशक औषधि के पास जाकर अपना विष उतार लेता है और लौटकर पुनः सर्प से युद्ध करता है और अन्त में सर्प के ऊपर विजय प्राप्त करने में सफल हो जाता है । संसार सर्प है और साधक नेवला, जब साधक के ऊपर संसार सर्प के विष के समान काम-क्रोध-लोभादि चढ़ने लगे तब उसे तुरन्त उपासना, आराधना या साधुसत्संग से दूर करके पुनः स्वस्थ होकर सांसारिक व्यवहार करना चाहिए । इस प्रकार कुछ काल में वह व्यवहार करते हुए भी स्वयं को निर्लिप्त बनाये रखने में सफल हो जाता है । व्यवहार की शुद्धि के लिए भी मन की निर्मलता अपेक्षित है । मन की उद्विग्नता में जो निर्णय लिए जाते हैं, उनमें अनर्थ और पश्चाताप होता है क्योंकि मानसिक अस्वस्थता के कारण ही मनुष्य के निर्णय अनुचित होते हैं और अनुचित निर्णयों से ही अनुचित कार्य भी । स्वस्थचित्त पुरुष निषिद्धाचरण से स्वयं को बचाने में समर्थ हो सकता है ।

संसार हमारे मन में विकार लाकर ही हमारी शान्ति और सुख हमसे छीन सकता है, इसके अभाव में नहीं । गोस्वामी तुलसीदास जी विनयपत्रिका में कहते हैं –

अनविचार रमणीय सदा संसार भयङ्कर भारी ।
शम सन्तोष दया विवेक ते व्यवहारी सुखकारी ।।

जीवन में अर्थ-काम या भौतिक समृद्धि की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । पर यह भी ध्रुवसत्य है कि भौतिक सुख साधन मन में पहुँचकर ही प्राणी को सुखी बना सकते हैं किन्तु मन के अस्वस्थ होने पर वे सब व्यर्थ बन जाते हैं । व्यक्ति और समाज के जीवन में अधिभूत का अध्यात्म

से सामंजस्य आवश्यक है ।

मानव आज उस सत्य को भुलाकर आधुनिकता के पीछे दौड़ रहा है । साध्य-साधन और विघ्न को समझकर ही किसी दिशा में प्रवृत्त होना श्रेयस्कर है। आज मानव को इस पर गंभीरता से विचार करना चाहिए कि वह किस ओर जा रहा है ।

चाहे व्यक्ति हो या समाज, आध्यात्मिक गुणों के विनाश के मूल्य पर भौतिक समृद्धि किसी के लिए भी हितकर नहीं हो सकती क्योंकि मन को अशान्त और अस्थिर करके जो कुछ उपलब्ध होगा, वह प्रज्ञापराध के कारण व्यर्थ बन जाएगा ।

अकारणकरुण करुणावरुणालय सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् से प्रार्थना है कि वे मानव को उचित दिशा का ज्ञान देकर उसको सुख-शान्ति प्रदान करें ।



प्रतिदिन आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता

मनुष्य शरीर परमेश्वर की सर्वोत्तम कृति है क्योंकि यह बुद्धि की उस क्षमता से सम्पन्न है जिसके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार किया जा सकता है । तत्त्ववेत्ता जिसे अद्वय ज्ञान-तत्त्व कहते हैं वही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्द से कहा जाता है । ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है । प्राणियों की विविध चेष्टाओं के मूल में दृष्टिगोचर होने वाली नित्य-जीवन, अनन्त-ज्ञान और असीम-आनन्द को आत्मसात् करने की तीव्र आकांक्षा सिद्ध करती है कि उन सब का चरम लक्ष्य सत्, चित् और आनन्द की प्राप्ति ही है ।

यह निश्चित है कि इस लक्ष्य की सिद्धि देहाभिमान, मन की चञ्चलता और भोगासक्ति के द्वारा नहीं हो सकती । आत्मानुसन्धान, अन्तर्मुखता और आत्मसंयम ही इसके साधन हो सकते हैं ।

हमारी दिनचर्या और आचार ऐसा होना चाहिए जो साधन में सहायक हो । भारत के मनीषियों ने अनादि, अपौरुषेय वेदों के माध्यम से इस तथ्य को समझ कर जीवन में उतारा था ।

आज हम भौतिक सुखों के चाकचिक्य में उन आध्यात्मिक मूल्यों से विरत हो रहे हैं, जो हमारे देश की सांस्कृतिक निधि कहे जा सकते हैं तथा जिनके कारण ही हम अनेकों झंझावातों के बीच भी स्वयं को सुरक्षित रखने में समर्थ हो सके हैं ।

कुछ लोग कहते हैं कि आध्यात्मिक मूल्य निहित स्वार्थों के स्वार्थ-रक्षण में सहायक होने के कारण भौतिक प्रगति में बाधक हैं अतएव उनकी उपेक्षा ही उचित है, किन्तु बात ऐसी नहीं है । विश्व की एकात्मकता का प्रदर्शक अध्यात्म, मनुष्य को संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठाता है, उसके भौतिक स्वार्थों का रक्षाकवच नहीं बनता ।

हमारे यहाँ तो भगवान् को **'अकिञ्चनजनप्रियः'** कहा गया है । जिस प्रकार भगवान् अकिंचनजनों को प्रिय हैं, उसी प्रकार अकिंचन भी भगवान् के प्रिय हैं –

''परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ।''

वैयक्तिक और सामाजिक सभी प्रकार की भौतिक प्रगति का उद्देश्य सुख ही हो सकता है । सुख की अनुभूति अन्तःकरण में ही होती है इसलिये सुख का जितना निकट सम्बन्ध अन्तःकरण से है उतना विषय, शरीर और इन्द्रियों से नहीं । चित्त के अशान्त हो जाने पर यह सब व्यर्थ हो जाते हैं **अशान्तस्य कुतः सुखम्** इसलिये हम सबको आध्यात्मिक मूल्यों, जिन्हें गीता में दैवी सम्पत् कहा गया है, को [illegible] का ध्यान रखते हुए ही भौतिक उन्नति के लिए प्रयास करना चाहिये।

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य आदि हमारे जीवन की रक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं फिर भी यह सब जीवन-साधन ही हो सकते हैं, लक्ष्य नहीं । लक्ष्य तो भगवान् ही हो सकते हैं ।

जिन देशों में भौतिक सुख-साधन प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं, वहां के जनमानस की अशान्ति के दर्शन से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि ही होती है कि सुख तृष्णा से नहीं किन्तु तृष्णा-क्षय से ही प्राप्त होता है- "**तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति**" अर्थात् स्वर्गपद क्या है ? उत्तर है- तृष्णाक्षय । एक प्रसिद्ध श्लोक है-

न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्तिनः ।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ।।

अर्थात् न तो इन्द्र को कुछ सुख है, न चक्रवर्ती सम्राट् को ही सुख है । सुख तो एकान्तवासी विरक्त मुनि को ही है । कुछ लोगों की धारणा है कि तृष्णा भौतिक विकास में बहुत सहायक है क्योंकि उससे प्रेरित होकर ही मनुष्य कठिन श्रम करता है । किसी अंश में यह ठीक होते हुए भी कभी-कभी तृष्णा जनमानस को अकर्मण्यता और अनैतिकता की ओर ढकेल देती है । आज हम अपने देश में यही देख रहे हैं ।

हमारे शास्त्रों में उसी अर्थ को उत्तम माना गया है, जो धर्मार्जित हो । धर्मार्जित द्रव्य वह है, जो कठिन परिश्रम से प्राप्त होता है, जिसे "गाढ़े पसीने की कमाई " कहा जाता है ।

आध्यात्मिक साधना में आहारशुद्धि का बहुत महत्व है - **आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिशुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।**

अर्थात् आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि, चित्त (अन्तःकरण) की शुद्धि से ध्रुवास्मृति और स्मृति की शुद्धि से समस्त ग्रन्थियों का विप्रमोक्ष होता है। अन्याय और परपीडन से प्राप्त धन से आहार शुद्धि नहीं हो सकती। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को कठिन परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति को ही उपयोग में लाना चाहिए।

इस प्रकार हम चाहें तो भौतिक उन्नति का अध्यात्म से समन्वय करके व्यक्ति और समाज के सर्वाङ्गीण विकास का पथ प्रशस्त कर सकते हैं। हमारे यहाँ उसी व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित माना गया है जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों का समन्वय हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि धर्मार्जित अर्थ का उपयोग धर्म में हो, काम में नहीं। काम जीवन धारण के लिए हो, इन्द्रिय-प्रीति के लिए नहीं। जीवन तत्त्व जिज्ञासा के लिए और धर्म मोक्ष के लिए विनियुक्त हो।

आज की स्थिति में अपनी तथा समाज की उन्नति के लिए अतिरिक्त पुरुषार्थ की आवश्यकता है। व्यक्ति समाज से जुड़ा हुआ है और समाज व्यक्ति से। व्यक्ति को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जो समाज के हित में बाधक हो तथा ऐसे समाज का निर्माण करना चाहिए, जिसमें व्यक्ति अपने परम्परागत आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा करते हुए अपनी भौतिक उन्नति का निर्बाध अवसर पा सके।

किन्तु यह सब हम अपने मनोवेगों पर बिना नियन्त्रण किये नहीं कर सकते। इसके लिए मन को निरुद्विग्न और शान्त बनाना आवश्यक है। जो शान्त और समाहित होकर सुविचारित निर्णय ग्रहण करते हैं वे ही स्वयं और विश्व को उचित मार्ग पर ले चलने में समर्थ हो सकते हैं।

यदि हम नहीं चाहते कि हमें अपने किसी निर्णय या कर्म पर पश्चात्ताप करना पड़े तो यह नियम बनाना होगा कि हम सदैव शान्त और स्वस्थ मन से ही निर्णय लेकर कार्य करेंगे। कम से कम चौबीस घण्टे में एक बार अवश्य मन को उत्तेजना रहित और अन्तर्मुख बनाना ही चाहिए। क्योंकि उत्तेजित मन प्रायः प्रतिक्रिया की ही भाषा में सोचता है।

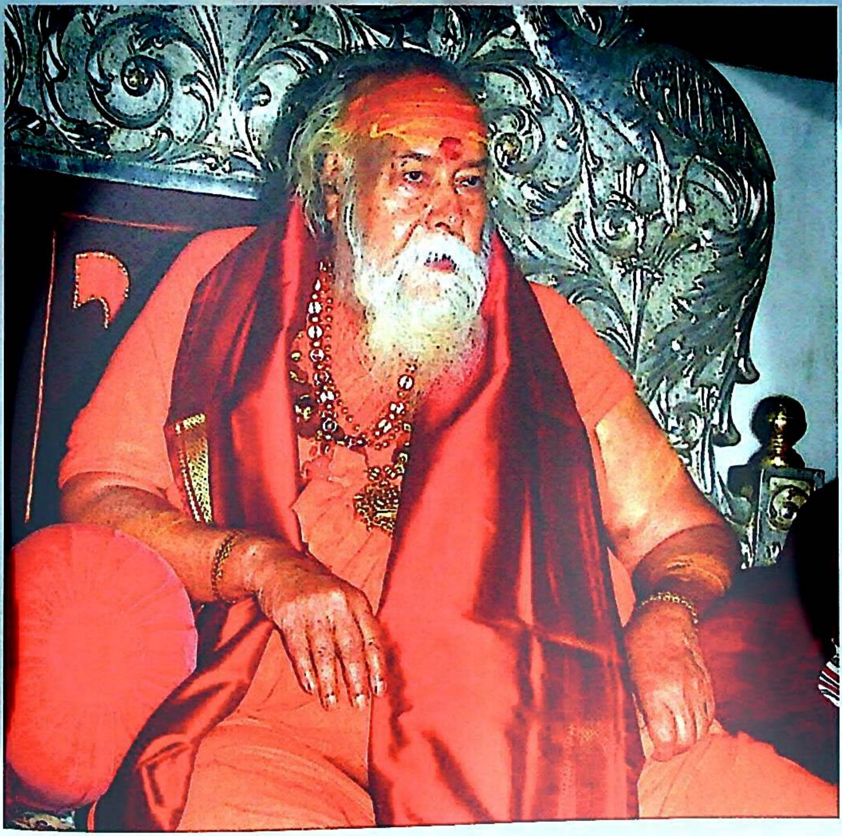
कुछ समय के लिए स्वयं को शरीर से पृथक् समझकर आत्मनिरीक्षण, भाव-संशुद्धि और ध्यान करने से मन क्रमशः शान्त हो जाता है। मन की

शान्ति न केवल व्यवहार की शुद्धि एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी उपादेय है ।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किमहं पशुभिस्तुल्यः किम्वा सत्पुरुषैरिति ।।

मनुष्य को प्रतिदिन एकान्त मैं बैठकर यह सोचकर देखना चाहिए कि मैं पशु के समान प्रवृत्ति के प्रवाह में बह रहा हूँ या सत्पुरुषों के समान विघ्नों से अनभिभूत होकर अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ रहा हूँ । इसके बाद अपने कर्तव्य का निर्धारण करके दृढ़ता से उसका पालन करना चाहिए ।

शास्त्र और आचार्यों से निर्दिष्ट दिशा पर चलकर हम उद्देश्य की सिद्धि सरलता से कर सकते हैं।



साधना की निरन्तरता ही उसकी शक्ति

भगवत्तत्व विज्ञान ही त्रिविध तापों की निवृत्ति का साधन है । मनुष्य दुःखों से मुक्ति और अखण्ड-अनन्त-सुख की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है । उसकी सभी चेष्टाओं के उद्देश्य पर विचार करने से पता लगता है कि वह संसार को हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) इन दो भागों में विभक्त करके इनमें से कुछ का परिहार (त्याग) और कुछ की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है । किन्तु हम यह देखते हैं कि इस मार्ग से उसके उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो पाती । वह दुःख और दुःख के साधन आधि-व्याधि, शोक-सन्ताप, जन्म-मरण से बचना चाहता है पर वे न चाहने पर भी उपस्थित हो ही जाते हैं । इसी प्रकार सुख और सुख के साधन भोगों को, कठिन परिश्रम करने पर भी पूर्णरूप से नहीं जुटा लेने पर भी उनके वियोग को नहीं रोक पाता । सब कुछ करने पर भी उसका हृदय अतृप्ति और तृष्णा से मुक्त नहीं होता । क्योंकि अतृप्ति और तृष्णा का कारण भोग्य पदार्थों का अभाव नहीं किन्तु अहंकार और भोगों के प्रति रमणीयता की बुद्धि है । अपने में न्यूनता दिखलाना अहंकार का स्वभाव है, इसी प्रकार विषयों में रमणीयता बुद्धि का स्वभाव तृष्णा उत्पन्न करना है । अहंकार और रमणीयता बुद्धि का भोग और भोग साधनों के संचय से पोषण ही होता है । फलतः अतृप्ति और तृष्णा अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ।

आत्मतुष्टि से ही मनुष्य सुखी हो सकता है । सीमित अहंकार अपनी महत्ता के लिए अनुकूल पदार्थों एवं परिस्थितियों की अपेक्षा रखता है । तृष्णा भी अपेक्षित परिस्थितियों और अनुकूल विषयों की प्राप्ति से बढ़ती ही है, जिससे स्वयं में पूर्णता का अनुभव नहीं हो पाता । स्वयं में पूर्णता या कृत-कृत्यता का अनुभव बाह्य-विषय निरपेक्ष पुरुष ही कर सकता है । क्योंकि सुख बाहर नहीं, भीतर है । जैसे कस्तूरी मृग की नाभि में कस्तूरी रहती है पर वह अज्ञान के कारण उसकी खोज में वन-वन भटकता है, उसी प्रकार अपने में सुख का खजाना होने पर भी बहिर्मुख प्राणी संसार में भटकता है ।

नदी के किनारे किसी किसान का खेत था । एक दिन वह उसमें स्नान के लिए गया । निर्मल जल में उनको एक मणि चमकती हुई दिखलाई पड़ी । मणि

देखकर उसे बहुत प्रसन्नता हुई । वस्त्र उतारकर वह जल में प्रविष्ट हुआ और कई गोते लगाये पर कंकड़-पत्थर को छोड़कर उसके हाथ कुछ भी न लगा । वह बार-बार जल से बाहर निकलता और व्यग्रता से मणि को देखकर गोते लगाता । संयोग से कोई बुद्धिमान् महात्मा वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने उसकी व्यग्रता का कारण पूछा और उसको जल के बाहर निकलकर जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष की शाखा में चढ़ने का आदेश दिया । महात्मा के निर्देशानुसार वृक्ष की शाखा में चढ़कर वह एक पक्षी के घोंसले में स्थित उस मणि को प्राप्त करने में सफल हो गया जो जल में प्रतिबिम्बित हो रही थी ।

अनुकूल परिस्थिति और अभिलषित पदार्थों की सन्निधि में जब अन्तःकरण में सत्त्वगुण के उद्रेक से निर्मलता और एकाग्रता आती है तब उसमें अन्तःस्थित परमानन्द-स्वरूप परमात्मा के आभास से जीव को सुखनुभूति होती है । पर बहिर्मुखता के कारण वह उसको अपने भीतर न देखकर भ्रमवश बाह्य-प्रपंच में आरोपित करके जल में मणि के लिए गोता लगााने वाले किसान के समान खेद का अनुभव करता है । जिस प्रकार वृक्ष की शाखा में मणि के रहने पर भी स्वच्छ और निर्मल जल में ही मणि प्रतिबिम्बित होती है, चंचल और मलिन जल में उसका प्रतिबिम्ब नहीं दिखलाई पड़ता, उसी प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप व्यापक ब्रह्म हृदय गुफा में निरन्तर विद्यमान रहने पर भी निर्मल निश्चल अन्तःकरण में ही उसके स्वरूपभूत आनन्द का आभास स्पष्ट होता है । जबकि अन्तःकरण की चंचल और मलिन अवस्था में वह तिरोहित सा हो जाता है त्रिगुणात्मक प्रकृति से निर्मल अन्तःकरण में सत्त्व, रज और तम का ह्रास-विकास हुआ करता है । सत्त्वगुण के विकास से ही उसमें निर्मलता निश्चलता आती है ।

वस्तुस्थिति के अज्ञान के कारण वासनाओं से प्रेरित प्राणी भोग को ही सुख समझकर भोग साधनों के सङ्कलन को अपना लक्ष्य बनाकर प्राप्ति-परिहार के चिन्तन और प्रयत्न में लगा रहता है ।

जब सत्संग से विचार का उदय होता है तब उसको अपनी भूल का पता लगता है और वह समझता है कि आनन्द तो उसके भीतर ही है, उसके लिए बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है । वस्तुतः आनन्द की उत्पत्ति नहीं,

अभिव्यक्ति होती है तथा अभिव्यक्ति का कारण सात्विकता से होने वाली प्रसन्नता और अन्तर्मुखता है। अन्तःकरण की ऐसी स्थिति अनुकूल विषयों की उपस्थिति से कभी होती है, कभी नहीं होती और होने पर भी उससे भोगवासना ही दृढ़ होती है।

संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं। उनमें कुछ तो भोग्य विषयों की आसक्ति में उलझे हुए हैं और कुछ उनकी आशा में लटक रहे हैं। इससे उनके हृदय-पटल पर अज्ञान का आवरण गहरा हो गया है। बहिर्मुखता का यही कारण है।

तप और त्याग से बहिर्मुखता दूर होती है। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता (एक तत्त्वप्रवणता) ही परम तप है **'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः'** इसी प्रकार बाह्य प्रपंच में आसक्ति न होना त्याग है। इसी से ब्रह्मविज्ञान और शाश्वतशान्ति की प्राप्ति होती है। यों तो केवल बाह्य विषयों की अनासक्ति से ही जिस सुख की अभिव्यक्ति होती है, वही इन्द्रिय और शब्दादि विषयों के संयोग से प्रतीत होने वाले सुख से कई गुना अधिक है तथापि ब्रह्मानुभूति से वह सुस्थिर हो जाता है।

भक्ति की साधना ही साधक को बाह्य-निरपेक्ष बनाती है। उपासना में मानस पूजा का बड़ा महत्व है **"मानसी सा परा मता"**। बाह्य-पूजा यद्यपि साधन सापेक्ष है तथापि समर्पण के लिए बाह्य साधनों के संकलन का पर्यवसान त्याग में ही होता है। साध्य भक्ति का आधार तो **'तत्सुखसुखित्व'** (भगवान् के सुख में सुखी होना) रूप महान् त्याग ही है।

भक्त भगवान् के चिन्तन में खो जाता है, और भगवच्चिन्तन, भगवत्सेवा और सत्संग से उसको रसानूभूति होती है। उसके आगे मोक्षसुख भी उसको फीका लगने लगता है।

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते, चरणसरोजहंसकुलसङ्ग-विसृष्टगृहाः स्वधर्माचरण में भी निषिद्ध कर्मों के परित्याग और विहित कर्मों के अनुष्ठान से इन्द्रियों और मन का निग्रह रूप तप हो जाता है, जिससे धर्मानुष्ठान करने वालों को विलक्षण सुख का अनुभव होता है।

सामान्य मनुष्य को माघ मास की ठण्ड में गङ्गास्नान भले ही दुःखद प्रतीत होता हो पर ब्रह्ममुहूर्त में उठकर गङ्गा में गोता लगाने का आनन्द तो वही

जानता है जो शीत के कष्ट की चिन्ता न करके गोता लगा ही लेता है। धर्माचरण का भी एक विलक्षण स्वाद होता है। इसी प्रकार जो परोपकार में कष्ट उठाते हैं, देश और धर्म की रक्षा के लिए अपना बलिदान कर देते हैं, उनके सुख को स्वार्थी और भयभीत मनुष्य नहीं समझ सकते।

भारतीय संस्कृति की आस्था तप और त्याग ही है। अतिथि सत्कार, दान, परोपकार, यज्ञ, देवपूजन एवं ईश्वराराधन जैसे सभी सत्कर्मों में हमें तप और त्याग के दर्शन होते हैं।

अष्टांग योग की साधना में यम, नियम का स्थान प्रथम है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यम हैं तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को नियम कहा गया है। नियम से भी यम का महत्व अधिक है। आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान एवं समाधि के यही दो आधार हैं।

मनुष्य अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार किसी भी साधन से तत्त्व दर्शन के द्वारा अपने भीतर ही उस अक्षयसुख को प्राप्त कर सकता है, जिसके लिए वह व्याकुल है।

आवश्यकता है उत्तम-दिनचर्या, श्रद्धा, तत्परता, आत्मविश्वास और धैयपूर्वक निरन्तर अभ्यास की। आध्यात्मिक साधना ही समय का सदुपयोग है। साधना चाहे थोड़ी ही क्यों न हो, नियमित होनी चाहिए। नियम-निष्ठा और निरन्तरता से साधना में यह शक्ति आती है, जिससे रागादि दोषों का निर्मूलन होता है।

राग से मनुष्य का पतन होता है पर राग से नियम का बल अधिक है। विघ्न उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते जो नियम पूर्वक निरन्तर साधनाभ्यास करता है।

वास्तविक लक्ष्य का स्मरण और तदनुकूल सतत प्रयत्न आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं का विनाश कर देते हैं।

उद्देश्य की पवित्रता

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ का अन्तर सम्यक् रूप से समझना मोक्ष का साधन है। इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि का संघात, चेतना, धृति इन सबको क्षेत्र तथा इनके साक्षी दृष्टा आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । इन दोनों का अविवेक ही संसार का कारण है । क्षेत्र के सुख-दुःख को क्षेत्रज्ञ आत्मा में आरोपित करके स्वयं को सुखी दुःखी मान बैठना ही उसका संसारी होना है । यही जन्म-मरण की शृङ्खला का भी कारण है । अविवेक को ही तत्वदर्शियों ने असंग आत्मा के जीवभाव का हेतु बतलाया है ।

जीव की समस्त चेष्टाओं का उद्देश्य समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है । पुरुष अर्थात् जीव का परम प्रयोजन होने के कारण इसको पुरुषार्थ भी कहा जाता है ।

चौरासी लाख प्रकार के शरीरों में से पुरुषार्थ की सिद्धि का माध्यम केवल मनुष्य शरीर है । अतः मनुष्य का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने देव दुर्लभ मानव शरीर से वही कार्य करे जो अन्य शरीरों से न हो सकता हो । मनुष्येतर शरीरों से भोग भोगे जा सकते हैं किन्तु भोगों को पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनसे दुःखों की मुक्ति और असीम आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं है । भोगों से तो दुःख बढ़ता ही है । कठोपनिषद् में नचिकेता ने कहा है – "ऐन्द्रिक भोग इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देते हैं, मन को निर्बल बना देते हैं ।" आद्य शङ्कराचार्य ने भोगों को रोग का कारण बतलाया है । गीता भी संस्पर्शज भोगों को दुःख का कारण कहती है ।

वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो पता लगता है कि आनन्द बाहर नहीं, भीतर है । वह आत्मा का स्वरूप ही है । पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप जब जीव को अभिलषित विषय की प्राप्ति होती है तब अभिलाषा (इच्छा) की समाप्ति से एकाग्रता और प्रिय वस्तु की प्राप्ति के हर्ष से अन्तःकरण में थोड़ी देर के लिये सत्त्वगुण के उद्रेक से निश्चलता और निर्मलता आ जाती है । उस समय अन्तःकरण में जो परमानन्द स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी को

भ्रमवश विषय सुख या भोगजन्य सुख समझ लिया जाता है जो वास्तव में आत्मसुख ही है । अखण्ड, अनन्त, परिपूर्ण आत्मा का जीव भाव ही उसमें अल्पता का अनुभव कराता है । नासमझी से जीव बाह्य विषयों को प्राप्त करके अल्पता को दूर करना चाहता है । यही काम का मूल रूप है, जो विविध इच्छाओं को उत्पन्न करता है। मन में जब तक इच्छा रहती है तब तक आत्मा में अपूर्णता, अभाव और असंतोष का अनुभव कराती रहती है । और जब तक पूर्ण नहीं हो जाती, कांटे सी चुभती रहती है । इच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर थोड़ी देर के लिए उस वेदना का अन्त सा प्रतीत होता है किन्तु पुनः अन्य इच्छाओं के उदय होने पर वैसी ही वेदना का अनुभव होने लगता है । वस्तुतः इच्छा करने और इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के पश्चात् जीव उसी अवस्था में जाता है, जिसमें इच्छा करने और पाने के पूर्व था । इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि यह दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और असीम आनन्द की प्राप्ति का सच्चा उपाय नहीं है । इसका उपाय अध्यात्मविद्या है । जिसको गीता में भगवान् ने अपना ही रूप माना है "**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्** " अर्थात् विद्याओं में अध्यात्मविद्या मेरा ही स्वरूप है । इस विद्या के द्वारा ही हम अपने पुरुषार्थ को पा सकते हैं ।

हमारे शास्त्रों में पामर, विषयी, साधक और सिद्ध चार प्रकार के पुरुष बतलाये गए हैं । जिसे उचित-अनुचित तथा धर्म-अधर्म का कुछ भी विवेक नहीं, जो मन और इन्द्रियाँ कहती हैं, उसी में प्रवृत्त रहता है वह पामर है । जिसने शास्त्रों का श्रवण करके धर्म-अधर्म के स्वरूप को समझा है और सावधानी से अधर्म से बचते हुए धर्म का पालन करता है, जो मानता है कि अधर्म दुःखों का कारण और धर्म लोक-परलोक के सुख का अचूक साधन है, वह विषयी कहलाता है ।

भगवत्पादपद्म-समर्पण-बुद्ध्या अनुष्ठित निष्काम कर्मों से जिसका मन पवित्र हो गया है और जो इहलोक और परलोक के सभी प्रकार के भोगों में मन को हटाकर भगवान् की आराधना, उपासना अथवा ब्रह्मविचार के द्वारा भगवत्प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, उसे साधक कहते हैं । ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न जीवन्मुक्त महापुरुष सिद्ध कहलाते हैं । सिद्ध कृतकृत्य होता है ।

मनुष्य को साधक बनना चाहिए। साधक बनने के लिए यह आवश्यक नहीं कि गृहस्थाश्रम का त्याग ही किया जाय। गृहस्थ भी साधक हो सकता है। इन्द्रियों और मन को धर्म द्वारा नियन्त्रित बनाने की साधना गृहस्थाश्रम में भी हो सकती है।

श्रीमद्भागवत में ब्रह्माजी ने कहा है कि तभी तक रागादि चोर हैं, गृह कारागार है जब तक प्राणी कृष्ण का भक्त नहीं बन जाता। पामर को छोड़कर विषयी भी निम्न स्तर का साधक ही है। सिद्ध भी व्यक्ति के रूप में यावज्जीवन साधक ही रहता है। उसमें सिद्धि का अभिमान नहीं होता।

साधक को अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार किसी निश्चित साधना प्रणाली का योग्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को साधना में ही विनियुक्त कर देना चाहिये।

उद्देश्य की पवित्रता से सभी कर्म और भाव पवित्र बन जाते हैं। स्वरूप से कोई भी कर्म उत्कृष्ट या निकृष्ट नहीं होता। यह देखा जाता है कि वह शास्त्रविहित और सद्भावना से अनुष्ठित है या नहीं।

शास्त्र विहित कर्म में भी श्रेष्ठता और कनिष्ठता इसी आधार पर आती है। प्रश्न यह नहीं है कि कौन क्या करता है अपितु प्रश्न यह है कि किस बुद्धि से करता है। बुद्धि के अनुसार ही यज्ञ, दान, तप जैसे पवित्र कर्मों के सात्त्विक, राजस, तामस भेद हो जाते हैं। यदि हम अपने जीवन का लक्ष्य भगवत्प्राप्ति बना लें और उसका सदा स्मरण रखें तो स्वाभाविक रूप से सभी कर्मों और भावों में शुद्धि और भगवत्प्रवणता आ जायेगी। आज के समाज में जो अनैतिकता और उच्छृङ्खलता व्याप्त हो गई है, उसका कारण जीवन के वास्तविक लक्ष्य का अज्ञान ही है। इसी अज्ञान के कारण व्यक्ति बिना विचार किये ही दूसरों का अनुकरण करने लग जाता है। यह स्थिति व्यक्ति और समाज दोनों के लिये घातक है।

हमें सत्संग और सद्ग्रन्थों के अध्ययन तथा युक्तायुक्त का विचार करते हुए अपने कर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिये।

भगवान् राम को अपना आदर्श बनाएँ

व्यवहार से परमार्थ का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । वही मनुष्य अपना परमार्थ सिद्ध कर सकता है, जिसका व्यवहार शुद्ध हो । व्यक्ति का व्यवहार उसके बौद्धिक स्तर और गुणों का परिचायक होता है। विषम परिस्थितियों से परिपूर्ण संसार में सदा दूसरों की बुद्धि पर अवलम्बित नहीं रहा जा सकता । बुद्धिमानों के संग से यद्यपि बहुत लाभ हैं, उनके सत्परामर्श का बहुत महत्व है फिर भी वे सदा सुलभ नहीं होते और न उनका बहुमूल्य परामर्श ही मिल पाता है । कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं, जिसमें स्वयं को ही निर्णय लेकर कार्य करने पड़ते हैं । ऐसे अवसरों में अपनी प्रज्ञा ही मनुष्य की मार्ग-दर्शक होती है। प्रज्ञा के महल पर आरूढ़ होकर ही संसार के शोक-सन्ताप से अप्रभावित रहा जा सकता है, कहा भी है-

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य ह्यशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ।।

अर्थात् प्रज्ञा के प्रासाद में आरूढ़ होकर जैसे पर्वत शिखर से कोई भूमि पर चलते हुये मनुष्यों को देखता है, उसी प्रकार प्राज्ञ स्वयं अशोच्य होकर शोक करते हुये प्राणियों को देखता है । जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य जीव के प्रत्येक क्षेत्र में सहायक होता है, उसी प्रकार उत्तम मानसिक स्वास्थ्य अर्थात् उत्तम चरित्र उससे भी कहीं अधिक हितकारक है ।

किन्तु इसका महत्व वह समझ सकता है, जिसका उद्देश्य महान् होता है । सुस्थिर लक्ष्य, दृढ़ निश्चय और उत्तम साधनों का अवलम्बन लेकर मनुष्य महान् हो सकता है

यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ।।

अर्थात् मनुष्य जैसे लोगों के बीच में रहता है, जैसे लोगों की सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है । जिस प्रकार अपनी आकृति सुधारने के लिये मनुष्य को दर्पण (आदर्श) का सहारा लेना पड़ता है, उसी

प्रकार आन्तरिक सद्गुणों के विकास के लिये किसी आदर्श चरित्र महापुरुष के चरित्र का अनुशीलन और ध्यान आवश्यक होता है। भगवान् श्रीराम का चरित्र आदर्श मानव का चरित्र है। योगवासिष्ठ के अनुसार उन्हें जीवन के प्रारम्भ में तीव्र वैराग्य हो गया था, जिससे महाराज दशरथ चिन्तित हो उठे और उनको वसिष्ठ से प्रबोधित कराया। वसिष्ठजी के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान से उनका हृदय परिपक्व हो गया। बाल्यावस्था से ही उनमें दिव्य सद्गुणों का आविर्भाव हो गया था, जिससे समस्त प्रजाजन उनसे सन्तुष्ट रहते थे। महर्षि वाल्मीकि ने उनके कतिपय गुणों का वर्णन किया है। वे शान्त चित्त रहते, सदा मधुर वाणी बोलते, यदि किसी की वाणी उनके प्रति कठोर भी होती तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे। उनका मन सदा उनके अधीन रहता था, जिससे वे किसी के कभी किये गये छोटे से उपकार से भी सन्तुष्ट हो जाते थे और दूसरे लोगों के साथ शास्त्र-सम्मत चर्चा करते थे, अवकाश के समय तो करते ही थे।

वे बड़े बद्धिमान् , मधुर भाषी, पूर्वभाषी अर्थात् समागतों के प्रति प्रथम भाषण के द्वारा अपनी अभियुक्तता दिखलाते थे, उनके शब्दों के अर्थ भी प्रिय होते थे, असाधारण बलवान् होने पर भी उन्हें अपने बल का गर्व नहीं होता था। वे सत्यवक्ता और गुरुजनों के उपासक थे, प्रजा उनमें अनुराग रखती थी और वे भी प्रजा को प्रसन्न रखते थे। वे दुःखीजनों पर दया रखते थे, क्रोध को उन्होंने जीत लिया था। धर्मज्ञ राम ब्राह्मणों की पूजा करते थे। दीनों के हितकारी और इन्द्रियों का दमन करने वाले थे। वे कुलोचित धर्म, दया, दाक्षिण्य, शरणागत रक्षण आदि के पालन में तत्पर रहते थे। स्वधर्माचरण को सर्वविध श्रेय का मूल मानते थे। कभी किसी बुरी बात की ओर उनका मन नहीं जाता था और वे धर्म के विरुद्ध कोई बात नहीं सुनते थे। विवाद के समय बृहस्पति के समान अपनी युक्तिपूर्ण बात का पोषण करते थे। वे नीरोग, तरुण, देश-काल के ज्ञाता, सब लोगों का बलाबल जानने में निपुण एवं साधु-पुरुष थे। वे सब विद्याओं के पारङ्गत तथा अङ्गों सहित वेदों का रहस्य जानते थे। अस्त्र-विद्या में तो भरताग्रज श्रीराम अपने पिता दशरथ से भी आगे बढ़ चुके थे।

श्रीराम कल्याण की जन्मभूमि, सज्जन, दैन्यभाव-हीन, सत्यवादी और सरल थे। क्षोभ होने पर भी अक्षुब्ध रहने वाले तथा धर्मार्थ का तत्त्व जानने

वाले द्विजों से सुशिक्षित थे। वे धर्म, अर्थ, काम का तत्त्व जानते थे। उनकी स्मरण शक्ति और प्रतिभा अलौकिक थी। लौकिक और सामयिक कार्यों में भी वे पूर्ण निपुण थे। वे विनीत थे। अपना अभिप्राय व्यक्त नहीं होने देते थे। उनकी मन्त्रणा गुप्त रहती थी, जब तक फलीभूत न हो जाय किसी को विदित नहीं होने पाती थी। उनके सहायक अच्छे थे। वे त्याग संयम और समय के महत्व को जानते थे। गुरुजनों में उनकी दृढ़-भक्ति थी और उनकी बुद्धि शान्त थी। वे बुरी बातों से सदा बचते थे। कभी दुर्वाक्य नहीं बोलते थे। वे अपने और पराये दोनों को जानते थे। आलस्य उनसे दूर रहता था। वे सदा सावधान रहते थे। उनका क्रोध और हर्ष दोनों अमोघ होते थे। वे शास्त्रवेत्ता थे। किसी के उपकार को भूलते नहीं थे। उन्हें मनुष्य की मर्यादा का ज्ञान था। पुरुषों के अभिप्राय को समझते थे। किस पर दया और किस पर कोप करना चाहिये इसका उन्हें ज्ञान था। उन्हें सत्पुरुषों के संग्रह, पालन तथा दुष्ट पुरुषों का निग्रह के अवसरों का ठीक ठीक ज्ञान था। अनिन्द्य कर्मों से धनसंग्रह और उससे परिवार के पोषण का ढंग भी वे अच्छा जानते थे। आय और व्यय दोनों के मार्ग का उन्हें ज्ञान था। वे अर्थ विभागविद् थे।

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते।

अर्थात् मनुष्य अपनी आय के पाँच विभाग करे। पहला भाग धर्म में, दूसरा भाग यश के कार्यों में, तीसरा भाग मूलधन की रक्षा में, चौथा भाग स्वयं के लिये तथा पाँचवाँ भाग अपने स्वजनों और आश्रितों के हित में लगाये। इस प्रकार धन का विभाग करने वाला इस लोक और परलोक में आनन्दित होता है। उनमें ईर्ष्या और अभिमान नहीं थे और कोई उनका अपमान करने वाला नहीं था। वे इस प्रकार के असंख्य गुणों से सम्पन्न थे।

अपने गुणों के बल पर ही उन्होंने सफलता अर्जित की। वानर भालु भी उनके सहायक बन गये। नीति शास्त्रों में कहा है -

जो न्याय के पथ पर चलता है, उसके तिर्यक् भी सहायक हो जाते हैं और अन्याय, असन्मार्ग पर चलने वाले का भाई भी उसका साथ छोड़ देता है।

आज व्यक्ति और समाज को सद्गुणों की आवश्यकता है। भगवान् राम

को अपना आदर्श बनाकर हम उनका अर्चन कर सकते हैं । बाह्य परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के प्रयत्न के साथ-साथ हमें अपने अन्तःकरण को भी सुसंस्कृत बनाने का प्रयास करना चाहिये तभी हम लोक-परलोक के साधक और तरण-तारण बन सकते हैं ।



तमेव शरणं गच्छ

हमारे शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ऐसे चार पुरुषार्थ माने गये हैं। इन चारों में किसी एक या दो अथवा सबको उद्देश्य बनाकर मनुष्य विविध साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत कुछ भक्त इन चारों की ही कामना छोड़कर भगवान् की अनुरक्ति मात्र की अभिलाषा रखते हैं। इनकी दृष्टि में भगवत्प्रेम परम पुरुषार्थ है।

यदि विचार करके देखा जाय तो सभी की प्राप्ति का मूल कारण धर्म ही सिद्ध होता है। अर्थ और काम की प्राप्ति पूर्व जन्म या इस जन्म में आचरित धर्म से होती है। मोक्ष का साधन ज्ञान और भक्ति का उदय भी उसी अन्तःकरण में होता है जो कामना रहित होकर धर्म का पालन करने से निर्मल हो पाता है। परलोक का साधक पुण्य रूप धर्म तो धर्माचरण से होता ही है। अतः धर्म-पुरुषार्थ का मूल भी धर्म ही है। आधुनिक युग में यह सिद्धान्त विस्मृत होता जा रहा है। क्योंकि धार्मिक विश्वास का आधार आत्मा की अमरता और सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी परमात्मा की सत्ता को भुलाया जा रहा है। यदि यह दो विश्वास मनुष्य हृदय में दृढ़ हो जायें तो वह धर्म के मार्ग से कभी विमुख नहीं हो सकता। यह निश्चित है कि मरने के पश्चात् भी जीव रहता है और उसे इस जन्म में किये गये भले या बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है। सर्वज्ञ परमात्मा जीवों के सभी कर्मों को जानता है और उनके अनुसार जन्म, आयु और भोग की व्यवस्था करता है। कितना भी चतुर प्राणी हो वह भगवान् के सामने निरावरण है। "दो आँख वालों को धोखा दिया जा सकता है परन्तु हजार आँख वाले को नहीं" यह कहावत प्रसिद्ध है।

राम झरोखा बैठके, सबका मुजरा लेय।
जाकी जैसी चाकरी ताको तैसा देय॥

परमेश्वर कर्मफलदाता होने के साथ-साथ विश्व का नियमन करते हैं, उनको अन्तर्यामी कहा जाता है। संसार के भीतर रहकर जो संसार का नियन्त्रण करे वह अन्तर्यामी है। भगवान् भूले भटके लोगों को मार्ग बतलाते हैं। धर्म, न्याय और सद्गुणों का पक्ष लेते हैं। प्राणियों के अभिमान का विनाश करते हैं

। विश्व के पीछे बैठकर आसुरी सम्पत् को निरुत्साहित करते हुए दैवी सम्पत् को प्रोत्साहित करते हैं । दीन-दुर्बल और दु:खियों के वे ही एक मात्र आश्रय हैं । विपत्ति की कैसी ही घनघोर घटा छाई हो, भगवान् चाहे तो एक क्षण में उसको छिन्न-भिन्न कर सकते हैं । धन, यौवन और ऐश्वर्य के मद में अन्धा प्राणी भले ही उनकी अवहेलना करे पर किसी न किसी दिन ईश्वर प्रेरित घटनाचक्र उसकी आँखें खोल ही देता है ।

भगवान् कभी-कभी जीव को अन्त:करण में चेतावनी भी देते हैं, जिसे लोग अन्तरात्मा की आवाज कहते हैं । पर यह आवाज या आकाशवाणी सबको नहीं सुनाई पड़ती । वासनाओं के कोलाहल में वह दब जाती है । कुछ तो भ्रमवश अपने मन की वासना को ही ईश्वर की प्रेरणा समझ बैठते हैं ।

जिसका हृदय निर्वासनिक होता है, जो अपनी इच्छाओं को छोड़कर पूर्णतया परमेश्वर पर ही निर्भर हो जाता है, स्वयं को यन्त्र और भगवान् को यंत्री बना लेता है, वही उनकी वाणी सुन सकता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। गीता १८/६१,६२

अर्थात् हे अर्जुन ! शरीर रूपी यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है ।

हे भारत ! "तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जा । उस परमात्मा की कृपा से तू परम शान्ति तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा" ।

जब जीव के मन, वचन और कर्म सभी भगवान् के प्रति समर्पित हो जाते हैं तब अधर्म उसके पास नहीं फटकता, उसकी वाणी असत्य नहीं होती, उसका मन असच्चिन्तन नहीं करता, उसकी इन्द्रियाँ कुमार्ग में नहीं जाती । ऐसा ही व्यक्ति सच्चे अर्थ में परोपकारी होता है । भगवद्विमुख मनुष्यों का परोपकार उनके अहंकार का पोषण करता है, जबकि शरणागत का परोपकार अभिमान्यशून्य

और उसका सहज स्वभाव होता है ।

पर उपकार वचन मन काया । संत सहज स्वभाव खगराया ।

परोपकार के लिये स्वार्थ का त्याग आवश्यक है, किन्तु जब तक सीमित अहंकार विद्यमान है, मनुष्य के सभी कार्य जाने-अनजाने उसी अहम् के लिए होते रहेंगे । ऐसी स्थिति में स्वार्थ छोड़ना असम्भव है । जाति, समाज और राष्ट्र के लिए जिन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है, वे निःस्वार्थ कहे जाते हैं । विचार करके देखा जाय तो उनके स्वार्थ की परिधि विस्तृत हो जाती है, स्वार्थ फिर भी नहीं छूटता । जो "स्व" को परम सत्ता में समर्पित कर देता है, सच्चे अर्थों में वही स्वार्थ-त्यागी हो सकता है ।

जो परमशक्ति समस्त प्राणियों पर अनवरत करुणामृत की वर्षा कर रही है, समर्पित व्यक्तित्व के मन, वचन तथा कर्म से उसी की अभिव्यक्ति होती है ।

आज का मानव शान्ति की खोज में भटक रहा है । यह नियम है कि मनुष्य अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप ही उपायों का आश्रय लेता है । "**कामना पूर्ति से शान्ति**" आज का जीवन-दर्शन बन गया है पर यह ठीक नहीं है । एक कामना की पूर्ति से अनेक कामनाओं का उदय होता है, जिनकी पूर्ति असम्भव होकर अशान्ति को ही जन्म देती है । जो अशान्त है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता । "**अशान्तस्य कुतः सुखम्** " अतः कामनाओं की समाप्ति ही सुख-शान्ति का मूल है पर ईश्वर विमुख व्यक्ति कामनाओं से मुक्त नहीं हो सकता ।

शरीर और संसार में अहन्ता तथा ममता से रहित होकर केवल एक परमात्मा को परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भाव से, श्रद्धा-भक्ति करते हुए उनकी आज्ञानुसार उनके ही लिये सब कुछ करना परमात्मा की ओर अभिमुख होना है । यही शरणागति है । शरणागत भक्त के हृदय में से कामना या स्वार्थ की सदा के लिये समाप्ति हो जाती है ।

वेद में भगवान् के सहस्रों सिर, सहस्रों कर-चरण-नेत्र बतलाये गये हैं, वास्तव में देखा जाय तो हमारा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब कुछ उसी विराट् परमेश्वर के अवयव हैं । हम भूल से स्वयं को उन (भगवान्) से पृथक् मानकर इन सबको स्वयं का मान बैठे हैं । यह सब तो उनका ही है, उनको समर्पित भी

क्या करें ?

किसी कवि ने कहा है ......

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागे है मोर ।।

राजा बलि ने भगवान् वामन को तीन पैर पृथ्वी दान में दे दी । भगवान् ने विराट् स्वरूप धारण करके दो ही पैर में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग को नाप लिया और बलि से बोले "तीसरे पैर की भूमि बता" । बलि ने कहा अभी तक भोग्य का दान किया था, भोक्ता का नहीं । वह बोला "तीसरा पैर मेरे सिर पर रखिये क्योंकि मैं पृथ्वी का भोक्ता होने के नाते इससे बड़ा हूँ । बात तो ठीक थी पर बलि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि में तादात्म्य करके सीमित अहम् को अभी बचाये हुए था, इसलिए वरुण पाश में बांधा गया । बलि की पत्नी विन्ध्यावली ने प्रार्थना करते हुए प्रभु से कहा – प्रभो ! "आपने मेरे पति को उचित ही दण्ड दिया। आपने अपनी क्रीड़ा के लिए समस्त जगत् का निर्माण किया है, यह तो आपका ही है । मेरे पति की यही भूल है, जो आपकी वस्तुओं को अपनी समझ बैठा है, यह सुनते ही भगवान् ने बलि को छोड़ दिया ।

जीव बलि और विन्ध्यावली शरणागति है । शरणागति जीव को बन्धन से छुड़ाने वाली है ।



परिष्कृत रुचि की आवश्यकता

आज का समाज नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से पतनोन्मुख होता जा रहा है। हम देखते हैं कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र कोई भी अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। उनको यह भी पता नहीं है कि वह वस्तुतः चाहता क्या है ?

जीवन के चरम लक्ष्य का अज्ञान और उसके साधनों के सम्बन्ध में भ्रान्ति ही उसकी दिशाशून्यता का कारक है।

स्वाभाविक रूप से मनुष्य विविध उपायों से प्राप्त होने वाले सुखों से परिचित होकर उसकी प्राप्ति का अभिलाषी बन जाता है किन्तु वह स्वल्प से सन्तुष्ट नहीं होता है। सुख की प्राप्ति में आने वाले अन्तरायों को वह दूर करना चाहता है, सदा के लिए।

वस्तुतः समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति प्राणिमात्र का अभिलषित है। पुरुष का परम प्रयोजन होने के कारण यही पुरुषार्थ कहलाता है।

संसार के सभी बुद्धिमान मनुष्य इसी उद्देश्य से विविध प्रकार के कर्म करते हैं। किन्तु यह देखा जाता है कि जिस सुख को वो चाहते हैं, वह तो दूर ही रहता है और जो दुःख सर्वथा अनपेक्षित है, वह सदा सम्मुख उपस्थित रहता है।

किसी भी उद्देश्य की सिद्धि के लिए लक्ष्य निर्धारण ही पर्याप्त नहीं होता, उपाय भी सही होना आवश्यक हुआ करता है, क्योंकि सदुपाय से ही सदुद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है, असदुपाय से नहीं।

अध्यात्म शास्त्रों के अनुशीलन और अनुभव से हमारे देश के मनीषियों ने यह निश्चय किया है कि परमात्मा को छोड़कर सुख और कहीं नहीं है। जो सुख का अन्यत्र अन्वेषण करते हैं, वे मानों काई से आच्छन्न जल को छोड़कर मृगतृष्णा की ओर दौड़ रहे हैं। आनन्द परमात्मा का स्वरूप ही है, वह सर्वव्यापक होने के कारण समस्त प्राणियों की हृदय गुहा में विद्यमान है। इस प्रकार देखा जाय तो हम जिस सुख का अन्वेषण करते हैं, वह हमसे दूर नहीं फिर भी अभिव्यक्ति के अभाव में अनुपलब्ध सा हो गया है।

यद्यपि परमात्मा समस्त प्राणियों के परम प्रेमास्पद स्वप्रकाश आत्मा से अभिन्न होने के कारण एकरस है तथापि अभिव्यक्ति के माध्यम और तारतम्य से ही उसमें उत्कृष्टता निकृष्टता और तारतम्य की प्रतीति होती है । माध्यम (उपाधि) के ही आधार पर उसमें हेयता उपादेयता आती है ।

आनन्द की अभिव्यक्ति का माध्यम निर्मल निश्चल अन्तःकरण होता है । जिस प्रकार चञ्चल और मलिन सरोवर में दिखलाई पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चञ्चल और मलिन प्रतीत होता है तथा स्वच्छ सुस्थिर सरोवर में स्वच्छ सुस्थिर। जितनी-जितनी सरोवर में स्वच्छता तथा सुस्थिरता बढ़ती जाती है, उतनी प्रतिबिम्ब में स्पष्टता और निश्चलता प्रतीत होती है। उसी प्रकार अन्तःकरण जितना निर्मल एवं निश्चल होता जाता है, उतनी ही आनन्द की अभिव्यक्ति में स्पष्टता आती है ।

अभिव्यक्ति के माध्यम के भेद से आनन्द के भी तीन भेद किये गये हैं, विषयानन्द, भगवदानन्द और ब्रह्मानन्द । यह नियम है कि प्राणी के प्राकृत पुण्य-पाप कर्मों के अनुसार ही उन विषयों की प्राप्ति होती है जो सुख-दुःख के निमित्त बनते हैं ।

जब प्राणी के मन में संस्कारवश किसी कामना का उदय होता है तब वह काँटे के समान-चुभती हुई उसको उस विषय की प्राप्ति के प्रयत्न में लगाती है तथा क्रमशः प्रबल और घनीभूत होकर अन्य कामनाओं को अभिभूत कर देती है । मन की ऐसी दशा में पूर्व-पुण्यों के फलस्वरूप जब कामित-विषय की प्राप्ति होती है तब उसके साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर हर्ष और तद्विषयक कामना की निवृत्ति से अन्तःकरण में क्षणिक स्वच्छता और स्थिरता आती है । उस अवस्था में पड़ने वाला परमानन्दस्वरूप परमात्मा का प्रतिबिम्ब ही विषयानन्द है । किन्तु कामनानिवृत्ति और हर्ष के सात्विकता की क्षणिकता, अनुकूल विषयों की प्राप्ति एवं इन्द्रियों की परतन्त्रता तथा बाह्य विषयों में सुख-बुद्धि की पोषकता के कारण यह आनन्द क्षणिक, दुःखजनक और हेय होता है ।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इन्द्रिय-विषय-सम्पर्क जन्य सुखों को दुःख का कारण और बुद्धिमानों के लिये त्याज्य बतलाया है । इससे हटकर जब मनुष्य भगवदानन्द और ब्रह्मानन्द की ओर बढ़ता है तभी उसको स्थायी सुख की उपलब्धि होती है । विदुर जी ने सुखी होने का बहुत ही सुन्दर मार्ग बतलाया है-

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशी कुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ।।

अर्थात् एक व्यवसायात्मिका बुद्धि से क्या नित्य और क्या अनित्य है, इन दो का निश्चय करके शम (मनोनिग्रह) दम (इन्द्रियनिग्रह) उपरम (एकाग्रता) और श्रद्धा इन चारों से तीन (काम क्रोध लोभ) को वश में करो, पाँच ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक्) को जीतकर छः (क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जन्म मृत्यु) को जानकर इनसे छुटकारा पाने के लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन तथा बुद्धि इन सात का विवेक के द्वारा इनमें से आत्म बुद्धि हटाकर इनको छोड़कर सुखी हो जाओ, इस मार्ग में सुख कहीं बाहर से नहीं लाना है केवल उसके प्रतिबन्धकों को विचार से हटाना है ।

प्रवृत्ति-जन्य सुख से निवृत्ति का सुख बड़ा और आयास रहित है । श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जो साधक बाह्य विषयों में आसक्ति का त्याग कर देता है, उसे अपने भीतर एक विलक्षण सुख की अनुभूति होती है, जिसको वह ब्रह्म-साक्षात्कार के द्वारा अक्षय रूप से प्राप्त कर लेता है । योग के ग्रन्थों में कहा गया है-

समाधि से निर्मल चित्त को आत्मा में स्थित करने पर जो सुख मिलता है, वह वाणी का विषय नहीं है उसका तो केवल अनुभव ही किया जा सकता है ।

वस्तुतः जैसे-जैसे मनुष्य का मन शुद्ध होता जाता है वैसे-वैसे उसकी रुचि परिष्कृत होती है । रुचि के परिष्कार से सुख सम्बन्धी धारणा भी परिवर्तित हो जाती है।

एक ग्रामीण बालक गुड़ को ही सबसे मधुर समझता है पर शर्करा, सिता और कन्द का उत्तरोत्तर स्वाद मिलने पर पूर्व-पूर्व से उसका मन हटता जाता है।

ग्राम्य गीतों पर मुग्ध होने वाला संगीत शास्त्र का पारङ्गत बनने पर स्वतः ही ग्राम्य गीतों से विरत हो जाता है । काव्यालङ्कारशास्त्र में निष्णात साहित्य के रसिक के लिये ग्राम्य गीत उपेक्षित हो जाते हैं । इसी कारण अध्यात्म ग्रन्थों में कहा गया है - जो सुख वीतराग एकान्त जीवी मुनि को प्राप्त होता है वह न तो चक्रवर्ती सम्राट् को मिलता है और न देवराज इन्द्र को ही ।

जो योगी ब्रह्मानन्द रस का पान करके उन्मुक्त हो गये हैं, उनको इन्द्र भी रङ्क (दरिद्र) के तुल्य प्रतीत होता है फिर नृप-कीट की तो कथा ही क्या है ।

भगवान् आद्य शङ्कराचार्य भी वेदान्त वाक्यों में रमण करने वाले वीतराग कौपीनधारियों को भाग्यशाली मानते हैं - **कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः**

लोक में जो कामजन्य सुख है तथा परलोक में पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले जो विशाल सुख मिलते हैं, यह सब मिलकर भी तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख की षोडशी (सोलहवीं) कला के बराबर नहीं है ।

भगवान् भूतभावन विश्वनाथ सदाशिव की चर्या श्मशानवास, पिशाचों का साहचर्य, मुण्डमाला धारण करना, अंग में चिताभस्म लगाना आदि इसी तथ्य की ओर इङ्गित करते हैं कि सुख बाहर नहीं भीतर है, ग्रहण में नहीं त्याग में है । योगवासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ ने ही श्रीराम को सुख का मार्ग बतलाया कि नेति नेति के द्वारा अशेष विशेष का निषेध करने के पश्चात् जो परमपद शेष रहता है, जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता, वही मैं हूँ यह जानकर सुखी हो जाओ। जड़ता को छोड़कर शिला के समान जो हृदय की स्थिरता है, वही परम पद है ।

भक्तिरसिकों ने द्रुत - चित्त की भगवदाकारता से अनुभूत होने वाले सुख के सम्बन्ध में कहा है - नाथ! जो आनन्द आपके निजजनों के मुख-कमल से विनिःसृत आपकी कथासुधा के श्रवण से उपलब्ध होता है, वह आनन्द अपनी महिमा में स्थित ब्रह्म में भी नहीं है फिर काल की तलवार से कटकर विमान से गिरने वाले देवताओं को वह कैसे सुलभ हो सकता है ?

भगवान् राम के दर्शन से राजर्षि जनका का मन भगवदानन्द के अनुराग में इतना अधिक निमग्न हो जाता है कि उसके लिये बरबस दुर्लभ ब्रह्म सुख का भी त्याग कर देता है । रघुवंश कुलदीप भरत तीर्थराज प्रयाग से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष छोड़कर जन्म-जन्म सीतारामपदारविन्द की रति का वरदान मांगते हैं।

रामचरितमानस में भुशुण्डि जी भगवान् श्रीराम की दिव्य मनोरम लीलाओं के निरन्तर अवलोकन करने वाले अवधपुरी के निवासियों के सौभाग्य की चर्चा करते हुये कहते हैं - जिस सुख के लिए शिव अशिव वेष धारण करते हैं, अवधपुरी के नर-नारी उस सुख में निरन्तर निमग्न हैं । हे खगेश! उस सुख का लवलेश जिन्होंने स्वप्न में भी एक बार प्राप्त कर लिया, वे सज्जन सुमति उस सुख के आगे ब्रह्म सुख को भी कुछ नहीं गिनते ।

तत्त्व यह है कि अभिन्न होने पर भी समाधि परिपूत विमल अन्तःकरण में ही ब्रह्म सुख की अभिव्यक्ति होती है, जो श्रम-साध्य है पर भगवान् की अचिन्त्य योगमाया से स्वेच्छया निर्मित दिव्य श्री विग्रह के चिन्तन से द्रुत भगवदाकार चित्त

में अभिव्यक्त वही सुख अनायास होकर चमत्कारपूर्ण हो जाता है, इसी को भगवत्सुख कहा जाता है, जो ब्रह्मसुख से भी अधिक आकर्षक होता है।

इस सुख का साधन काग (कौए का) शरीर भी भुशुण्डि को परम प्रिय हो जाता है। दुर्विगाम आत्मतत्त्व के अवगम के लिये स्वीकृत शरीर भगवान् के मनोरम चरित्रों के परिशीलन से जिनके क्लेश नष्ट हो गये हैं, वे भगवच्चरण सरोज हंस कुलरूपी महापुरुषों के सङ्ग के रसिक तो सत्संग का सुख प्राप्त करके अपवर्ग (मोक्ष) की अभिलाषा का भी त्याग कर देते हैं। धार्मिक जनों को धर्मानुष्टान और तपस्वियों को तपस्या में विलक्षण आनन्द होता है। भगवान् श्रीराम को अयोध्या के राज्य की अपेक्षा माता-पिता की आज्ञा के अनुसार चौदह वर्ष का वनवास अधिक सुखकर प्रतीत हुआ।

देश और राष्ट्र के भक्त अपने पारिवारिक सुखों की अपेक्षा देश के लिये अनेकों यातनाओं को सहन करने में सुख का अनुभव करते हैं। कुछ तो राष्ट्र की बलिवेदी पर स्वयं को अर्पित करने के लिये हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ जाते हैं।

पतिव्रता नारी पति के लिये अपना समस्त लौकिक सुख छोड़कर पतिसेवा में ही विलक्षण सुख का अनुभव करती है। भगवद्गीता में उसको सात्विक सुख बताया गया है जो पहले तो विष-तुल्य प्रतीत होता हो पर परिणाम में अमृत तुल्य हो और जिसकी उत्पत्ति आत्मशुद्धि से होती हो।

आत्म शुद्धि के साधन स्वधर्मानुष्ठान, सदाचार, सत्संग, आचार्योपासना, शम, दम, उपरति, श्रद्धा, विवेक, विचार, अन्तर्मुखता आदि ही हैं।

इस मार्ग को विस्मृत करके आज मानव जाति भटक रही है।

यदि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को सुखी बनाना है तो अपनी सुख सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन करना होगा। भारत के परम्परागत सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना छोड़कर उनका सम्मान ही नहीं वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी प्रस्थापना करके अपने दृष्टिकोण और कार्यों में व्यापक परिवर्तन लाना होगा।

अनुरूप दिनचर्या बनानी होगी। संस्कार तो हमारे भीतर हैं ही। उनको जाग्रत करने के लिये व्यापक स्तर पर वैचारिक शुद्धि के अभियान का श्रीगणेश करना पड़ेगा।

धर्म और परमार्थ-चिन्तन के लिए सङ्कल्प

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष अनादि हैं । यह जीव अनादि काल से जन्म-मरण के चक्र में पड़ा है। प्रत्येक जन्म के साथ रोग-शोक, जरा-मृत्यु अनिवार्य है । जो लोग वर्तमान शरीर के जन्म और मृत्यु के अन्तराल को ही जीवन समझते हैं उनको संसार की भयङ्करता का भान नहीं होता है । इसका भान उनको होता है जो आत्मा के अनादि-अनन्त अस्तित्त्व को अपना जीवन समझ कर उसकी दृष्टि से जन्म, जरा और मृत्यु के अनवरत प्रवाह की ओर ध्यान देते हैं । वे सोचते हैं कि इतने अपरिमित जन्मों के पश्चात् भी हमने संसार से छुटकारा पाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया । वस्तुतः मोह, वासना और सांसारिक भोगों का आकर्षण ही विचार और साधना के अवरोधक हैं । इनके कारण ही प्राणी मोक्ष (अमृत) की ओर से विमुख होकर विषय-भोग, स्त्री तथा सुरा की आकांक्षा करता है ।

प्रकृति नटी के चाकचिक्य और हाव-भाव से आत्मविस्मृत जीव यह नहीं समझ पाता कि जिसको हम सुख समझ रहे हैं वह सुख नहीं, दुःख है । महर्षि पतञ्जलि ने कहा है –

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।।

अर्थात् परिणाम, ताप, संस्कार के दुःखों तथा गुणवृत्ति के विरोध के कारण विवेकी की दृष्टि में सब कुछ दुःख ही है । यह जगत् परिवर्तनशील है । आत्मा को छोड़कर सभी भाव पदार्थ प्रतिष्ठित परिवर्तित होते रहते हैं । परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म होती है कि सहसा पकड़ में नहीं आती । आम के बौर में दिखलाई पड़ने वाला सरसों के समान फल कब कैसे इतना बड़ा हो गया, हमारी स्थूल दृष्टि नहीं पकड़ पाती । इस दृष्टि से देखा जाय तो भोग्य पदार्थों में भोगायतन शरीर और इन्द्रियों की शक्ति के ह्रास रूप परिणाम के कारण हमारा सुख क्षणिक है । इसके साथ-साथ आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तापों से ग्रस्त रहने के कारण भी मनुष्य संसार में सदा सुख से वञ्चित रहता है । प्रारब्ध और ग्रहों की प्रतिकूलता, प्राणियों का परस्पर सङ्घर्ष और आकस्मिक

दुर्घटना से होने वाले कष्ट, शारीरिक रोगों से होने वाली पीड़ा तथा मानसिक क्लेश त्रिताप कहलाते हैं। जैसे ज्वर के वेग में सुरुचिपूर्ण व्यञ्जन व्यर्थ होते हैं, उसी प्रकार इन तीन तापों के कारण सब सुख व्यर्थ हो जाते हैं। मनुष्य जब इन्द्रियों के अनुकूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का अनुभव करता है तब उससे उत्पन्न होने वाला सुख तो क्षणिक होने के कारण नष्ट हो जाता है, पर भोगजन्य संस्कार बना रहता है, जिससे उसको वेदना होती रहती है। बगीचे में गुलाब के फूल के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर मनुष्य उसको तोड़ता है, देखता है, सूंघता है, स्पर्श करता है और उसके म्लान हो जाने पर मसल कर फेंक देता है। इस प्रकार सुख तो थोड़ी देर में समाप्त हो जाता है, पर फूल तोड़ते समय जो गुलाब के काँटे अंगुलियों में गड़ जाते हैं, उसकी वेदना देर तक बनी रहती है। इसी प्रकार भोगों के संस्कार, विषय के परिवर्तन, वियोग और विनाश के पश्चात् मनुष्य को सन्तप्त करते हैं। सत्त्व, रज तथा तम प्रकृति के इन तीन गुणों के प्रभाव से प्राणी की रुचि और इच्छायें बदलती रहती हैं। जिस समय जिस वस्तु की इच्छा होती है, उस समय उसके प्रति अनुकूल भावना होती है पर चिरकाल तक प्रयत्न करने पर उसकी प्राप्ति के समय मनुष्य के हृदय में वैसी उत्सुकता और प्रीति नहीं रह पाती। फलतः उससे भी कष्ट ही होता है।

इसीलिए विवेकी लौकिक सुख को भी दुःख ही समझता है। वह इस ओर से ध्यान हटाकर वास्तविक सुख की खोज करता है।

कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि वैराग्य की भावना सहज स्वाभाविक इच्छाओं का दमन करती है और निषेधक होने के कारण मानसिक ग्रन्थि उत्पन्न करती है। परन्तु इसे विचारसङ्गत नहीं कहा जा सकता क्योंकि विचार से विषयों में दोषों का ज्ञान होने पर उदासीनता आती है, इच्छाओं का दमन न होकर निवृत्ति होती है। उदासीनता का अर्थ नैराश्य नहीं वरन् मन का मुड़ जाना है। कहा जाता है, काम प्राणिमात्र की स्वाभाविक इच्छा है किन्तु इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्वतन्त्र होना भी उसकी मौलिक इच्छा है, जो सुख के लिये अभिलषित विषयों और इन्द्रियों के परतन्त्र रहते पूर्ण नहीं हो सकती। मनुष्य की इच्छाएँ ही उसको दास बनाती हैं। जीव को अतीत में अनेकों बार मानव जन्म प्राप्त करने का उसको सुयोग प्राप्त हुआ पर जो

कुछ इसके द्वारा किया जाना चाहिए था, इसने नहीं किया । इस शरीर से वह कार्य करना चाहिये जो अन्य शरीरों से नहीं किया जा सकता । हमारे शास्त्रों के अनुसार चौरासी लाख योनियों में केवल मानव योनि कर्मयोनि है, शेष सब भोगयोनि हैं। इस कारण इसका महत्व देवताओं के शरीर से भी अधिक है । मनुष्य शरीर से अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थ तथा कुछ के मत से पंचम पुरुषार्थ प्रेम (भक्ति) की भी प्राप्ति हो सकती है । इनमें भी धर्म को छोड़कर सब फल हैं । धर्म फल और साधन दोनों है । शरीर, इन्द्रिय तथा मन की सभी चेष्टायें धर्म और अधर्म बन जाती हैं अर्थात् हमारा खाना-पीना-चलना-फिरना-उठना-बैठना-बोलना-देखना-सुनना तथा चिन्तन करना सब कुछ धर्म और अधर्म हो जाता है । हमारी शास्त्रविहित चेष्टायें धर्म और तद्विरुद्ध अधर्म हैं । आप चाहें तो उन्हें सहज में धर्म बना सकते हैं ।

हमने अपने करोड़ों जन्म दूसरों के भोगों के उपकरण बनकर तथा स्वयं की वासनाओं की पूर्ति के लिये भोगों को समर्पित करके नष्ट कर दिये । हमें इस जीवन में सङ्कल्प करना चाहिए कि यह जन्म धर्म और परमार्थ चिन्तन को समर्पित करेंगे । कुसङ्ग का त्याग करके सत्सङ्ग करेंगे । विषय भोगों से मन को विचार द्वारा उदासीन बनाकर भगवान् के अमल, कोमल, शीतल, सुलभ चरणकमलों का चंचरीक बनायेंगे। परमतत्त्व का साक्षात्कार करके स्वयं को भवबन्धन से छुड़ायेंगे । स्वयं मुक्त होकर शेष जीवन का प्रत्येक क्षण सबके कल्याण में लगा देंगे ।



भगवान् धर्म के पक्ष में रहते हैं

हमारे शास्त्रों में जिस प्रकार धर्माचरण, भगवद् -भजन और ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन होने के कारण चौरासी लाख शरीरों में मनुष्य शरीर को प्रधान माना है उसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थों में धर्म को प्रधान माना है। क्योंकि धर्म ही अर्थ, काम, पारलौकिक सुख का साधन पुण्यरूप धर्म और सद्गति या मोक्ष का हेतु है।

शास्त्रों का यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि पूर्वकृत सुकृतों से ही इस लोक में अर्थ की प्राप्ति तथा अनुकूल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का इन्द्रियों के साथ संयोग और उससे सुख की प्राप्ति होती है। जब जीव इस शरीर को छोड़कर जाने लगता है तब उसके साथ यहाँ की कोई भी सुख की सामग्री नहीं जाती, उसके साथ केवल उसका किया हुआ धर्म ही जाता है। इसी प्रकार फलाकांक्षा का त्याग करके भगवत्पादपङ्कजसमर्पण बुद्धि से अनुष्ठित धर्म ही भगवद्भक्ति और तत्त्व-ज्ञान के द्वारा मोक्ष का कारण बनता है।

भगवान् ने जगत् की रचना करके उसकी रक्षा के लिये मरीचि आदि प्रजापतियों को उत्पन्न करके वेदोक्त प्रवृत्तिलक्षण धर्म का उपदेश किया तथा सनक -सनन्दनादि को उत्पन्न करके निवृत्तिधर्म ज्ञान और वैराग्य का ग्रहण कराया। वेदोक्त धर्म के दो प्रकार होते हैं - प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण। प्रवृत्तिलक्षण धर्म के अनुष्ठान से जिनका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, वे ही निवृत्तिलक्षण धर्म ज्ञान और वैराग्य के अधिकारी होते हैं।

यदि मनुष्य शास्त्र और सज्जनों से धर्म का स्वरूप भली भाँति समझ ले तो वह अपने शरीर, इन्द्रिय और मन की प्रत्येक चेष्टाओं को धर्म बना सकता है क्योंकि यही चेष्टायें शास्त्र विहित होने से धर्म और शास्त्र प्रतिकूल होने से अधर्म बन जाती हैं। यदि हम चाहें तो हमारा देखना, सुनना, बोलना, खाना, पीना, सोचना,

सब धर्म बन सकते हैं। किन्तु इसके लिये जगत् के रचयिता अन्तर्यामी परमेश्वर और उसकी आज्ञा वेदों पर दृढ़-विश्वास होना आवश्यक है। विचारशील मनुष्य की समझ में यह बात सहज में आ सकती है कि समस्त विश्व का

संचालन जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा से हो रहा है, वह धर्म का पोषक है क्योंकि धर्म का पोषण जीवों के हित में है। उसी से जीवों के अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो सकती है।

"यतो धर्मस्ततो जयः" का सिद्धान्त परमेश्वर की धर्मपोषकता का ही द्योतक है। प्रश्न उठता है कि मनुष्य की धर्म और शास्त्रों के प्रति अनास्था का क्या कारण हो सकता है? स्कन्दपुराण में शारीरिक, वाचिक और मानसिक दोषों को इसका कारण बताया गया है –

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ।।
पारुष्यमनृतञ्चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ।।
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च मानसं त्रिविधं स्मृतम् ।।

अर्थात् बिना दिये किसी की वस्तु को लेना, प्राणियों की हिंसा, परस्त्रीगमन, ये तीन शरीर के पाप। कठोर शब्द बोलना, असत्य बोलना, चुगली करना, असम्बद्ध-प्रलाप ये चार वाणी के पाप तथा दूसरों के धन पर दृष्टि लगाना, मन से अनिष्ट-चिन्तन करना, मिथ्या दुराग्रह करना ये तीन मन के पाप। सब मिलाकर दश पाप होते हैं, जिनके कारण मनुष्य की ईश्वर और शास्त्रों में आस्था नहीं होती।

श्रेयस्काम पुरुष को इनका त्याग कर देना चाहिये। आजकल नास्तिकता को गर्व का विषय बनाकर आस्तिकता का जो उपहास किया जा रहा है, उसका कारण विचारों की गम्भीरता नहीं वरन् यही दश दोष हैं।

सनातन धर्म भगवान् की छः रूपों में उपासना की अनुमति देता है। आद्य शङ्कराचार्य षण्मतस्थापनाचार्य कहलाते हैं। निर्गुण निराकार और सगुण साकार दोनों रूपों में परमेश्वर की उपासना की जा सकती है। सगुण साकार के पांच भेद हैं, शिव-शक्ति-गणेश-सूर्य और विष्णु। किन्तु इनमें तात्विक भेद नहीं हैं। एक ही परमात्मा नट के समान इन सब रूपों को भक्तों के कल्याण के लिये धारण करके उनका उद्धार करते हैं। एक ही उपासना सबकी हो जाती है। इन पांचों के साथ निर्गुण उपासना को जोड़ देने से छः मत हो जाते हैं।

वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि के भेद के अनुसार कर्त्तव्य कर्मों में भेद होने पर भी इनका प्रमाण, उद्देश्य और आधार एक ही है । भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में मनुष्यों का दो भागों में वर्गीकरण किया है – दैवी सम्पद्युक्त और आसुरी सम्पद्युक्त । श्रुति कहती है –

"द्वया ह वै प्राजापत्याः देवाश्चासुराश्च"

अभय, सत्त्वसंशुद्धि (अन्तःकरण व्यवहार में शुद्धि, परवञ्चन, माया, असत्य आदि का परित्याग अर्थात् शुद्ध भाव से व्यवहार) ज्ञानयोग व्यवस्थिति (शास्त्र और गुरु से आत्मादि पदार्थों को जानकर एकाग्रचित्त से उसका अनुभव करना और उसमें निष्ठा) दान (यथाशक्ति अन्नादि का वितरण) दम (इन्द्रियों को वश में करना) यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता अहिंसा, सत्य(प्रिय अनृत वर्जित यथार्थ भाषण), अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन (चुगली न करना), प्राणियों पर दया, विषयों के सन्निहित रहने पर भी इन्द्रियों की अविक्रिया, मृदुता, बुरे कर्मों में लज्जा, अचञ्चलता, प्रागल्भ्य, क्षमा, देह–इन्द्रिय का सावधान रहना, पवित्रता, अद्रोह, स्वयं को पूज्य न समझना, ये सब दैवी सम्पद् और दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर शब्द बोलना, कर्तव्यों का विवेक न रखना ये आसुरी सम्पद् बताये गये हैं ।

आसुरी सम्पद् से बचते हुए दैवी सम्पद् के सद्गुणों को अपने जीवन में उतारना ही धर्म का ठोस आधार है । क्योंकि इसके बिना कुछ धार्मिक क्रिया कलाप केवल जीविका के ही साधन बनकर रह जाते हैं और कभी तो वह भी नहीं।

दैवी सम्पत् के अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ और भगवद्भक्त तथा गुणातीत के लक्षण भी बताये गये हैं । रामचरितमानस में सन्तों के लक्षण भगवान् श्रीराम ने बताये हैं । यह सब धार्मिक पुरुषों के आदर्श हैं ।

सिद्ध पुरुषों की स्वाभाविक स्थिति ही साधकों का साधन बन जाती है । 'आदर्श' दर्पण को कहते हैं । जैसे बहिर्मुख मनुष्य दर्पण को सामने रखकर अपने भौतिक रूप का निरीक्षण करके उसको संवारता है, वैसे ही साधक महापुरुषों की पवित्र निष्ठा और चर्या को सामने रखकर अपने आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिये प्रयत्नशील रहता है ।

किसी भी कर्म की उत्कृष्टता या निकृष्टता कर्ता की मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है, इसलिये उसको उत्कृष्ट बनाये रखना बहुत आवश्यक है । सभी प्रकार के

कर्मों एवं उपासनाओं में उपर्युक्त सद्गुण समान रूप से अपेक्षित होते हैं ।

श्रीमद्भागवत में भगवान् ने कहा- मैं निरपेक्ष, शान्त , निर्वैर, मननशील और समदर्शी भक्त के पीछे-पीछे चलता हूँ, जिससे उसके चरणों की धूलि मेरे मस्तक पर पड़े और मैं पवित्र हो जाऊँ । इससे पता लगता है कि भगवान् सद्गुणों का कितना आदर करते हैं । कौरव-पाण्डव दोनों से निकट सम्बन्ध होने पर भी भगवान् का अर्जुन के रथ का सारथी बनना इसका निदर्शन है ।

साधनापथ के पथिक के सम्मुख उत्थान या पतन दो ही विकल्प हैं । यथास्थिति के लिये यहाँ कोई अवकाश नहीं है। मनुष्य व्यक्ति के रूप में यावज्जीवन अपूर्ण रहता है, उसे निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रयास करते रहना चाहिये । वस्तुतः पूर्णता का अभिमान ही अपूर्णता है ।

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान-विज्ञान, सत्य और अक्रोध यह दश सामान्य धर्म के लक्षण हैं। जिनसे मानव मात्र लाभ उठाकर सच्चे अर्थों में मानव बन सकता है । धर्म मन को शुद्ध बनाता है और अधर्म उसको मलिन।

मन की निर्मलता और प्रसन्नता एक ही है । हमारे दुःख-सुख का मन से निकट का सम्बन्ध है । यही कारण है कि जिसका मन शुद्ध नहीं है, वह अशान्त रहता है । मनुष्य सुखी बनने के लिये भौतिक साधनों के संचय में जिस तत्परता से लगा है, वैसी ही तत्परता मन की शुद्धि के लिये अपेक्षित है । इसके बिना उसकी उन्नति एकाङ्गी रहेगी और वह सच्चे अर्थों में सुखी नहीं हो सकेगा।

धर्म का पालन करते समय प्रारम्भ में कुछ दुःख भी होता है पर वह वास्तव में दुःख नहीं कहा जा सकता । जो लोग माघ मास में गङ्गातट पर रहते हुए सूर्योदय के पूर्व गङ्गास्नान करते हैं, उनको भले ही प्रारम्भ में दुःख की अनुभूति होती हो पर स्नान के पश्चात् जो सात्विकता और सुख का अनुभव होता है, वह अवर्णनीय है ।

अधर्म पर चलने वालों का अन्त दुःखद होता है । अपनी मानसिक मलिनता के कारण वे न किसी से प्रेम कर सकते हैं और न किसी स्थिति में उन्हें सन्तुष्टि ही मिल पाती है । भगवान् के सत्य, न्याय और सदाचार के प्रति पक्षपात को ध्यान में रखकर उनकी आज्ञा के अनुसार हमें धर्म के पथ पर दृढ़ रहना चाहिये।

चित्त की समस्या का समाधान

संसार में चित्त और चैत्य दो ही पदार्थ हैं। जिसमें चिन्तन होता है, उसको चित्त और जिसका चिन्तन होता है, वह चैत्य कहलाता है। चैत्य रहित चित्त ही चित् (स्वप्रकाश आत्मा) है। चित्त में बराबर किसी न किसी विषय का चिन्तन होता ही रहता है। जिस चित्त में परस्पर असम्बद्ध अनेक विषयों का चिन्तन होता है, वह चंचल और जिसमें एक ही विषय का धारावाहिक चिन्तन होता है, उसको एकाग्र कहते हैं। सूक्ष्मता से विचार करने पर पता लगता है कि चित्त की मलिनता और पवित्रता भी चिन्तनीय विषय की मलिनता और पवित्रता पर निर्भर है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी दृष्टि से उद्धव को समझाते हुए कहा है **"गुणदोषदृष्टिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः"** अर्थात् गुणदोष देखना ही दोष और दोनों के चिन्तन से रहित होना ही गुण है। वस्तुतः आत्मा में न तो कुछ बनता है और न बिगड़ता है। वह तो एकरस है, जो कुछ गड़बड़ी या अच्छाई है, वह चित्त में ही है। इसलिए उसी के संशोधन पर ध्यान देना चाहिये। कर्म, उपासना और योग का लक्ष्य इसी चित्त का संशोधन है।

जब मनुष्य इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले विषयों की कामना से दूषित कर्म करता है या उनका ध्यान करता है तब उसका मन क्रमशः निर्बल होने लगता है और कुछ समय के पश्चात् वह अपनी भावनाओं और कर्मों पर से अपना नियन्त्रण खो बैठता है। जिससे अनर्थों की परम्परा उसको घेर लेती है।

इस निर्बलता को दूर करने के लिये ही शास्त्रों और महापुरुषों ने उत्तम कर्मों के आचरण तथा ईश्वरोपासना का उपदेश दिया है। दार्शनिक दृष्टि से जीव ईश्वर का अंश है। स्वयं को भूल जाने के कारण ही उसमें अनीश्वरता या असमर्थता आ गई है। अपने अंशी ईश्वर के ध्यान से ही वह इससे मुक्त हो सकता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में यह श्लोक प्रसिद्ध है –

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

अर्थात् अपने शरीर और मन के दोषों को प्राणायाम से, धारणाओं से पापों को, प्रत्याहार (मन को विषयों से मोड़ना) से संसर्गों और ध्यान से

अनीश्वर गुणों को जलावे । इस श्लोक में आध्यात्मिक साधना का सार निर्दिष्ट है । योग की प्रक्रिया भी इसमें आ जाती है ।

यदि साधक सिद्धासन, पद्मासन या सुखासन से स्थिर होकर देर तक बैठने का अभ्यास करने लग जाये, श्वास लेने और छोड़ने का प्रयत्न छोड़कर केवल स्वाभाविक रूप से चलने वाले श्वास प्रश्वास पर दृष्टि रखे तो कुछ काल में प्राणायाम स्वतः सिद्ध हो जाता है । इससे चित्त को एकाग्र करके ध्यान लगाने में भी सहायता मिलती है ।

कहा जाता है कि जैसे रोते हुए शिशु को झूला झुलाकर शान्त किया जाता है, वैसे ही यह मन भी एक शिशु है, जिसको श्वास-प्रश्वास के झूले में झुलाकर शान्त किया जा सकता है ।

हड़बड़ी से मन की अस्थिरता बढ़ जाती है । भोजन और शयन में देखा जाता है कि जब किसी प्रकार की हड़बड़ी रहती है, उस अवस्था में न तो भोजन ही ठीक से होता है, न निद्रा ही आती है और न भजन में निश्चिन्त होकर बैठने में ही सफलता मिलती है ।

चित्त-वृत्तियों के निरोध को ही समाधि कहते हैं । समाधि के अभ्यास में लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वादन को विघ्न माना गया है । निद्रा को लय, चित्त की चंचलता को विक्षेप, सूक्ष्म वासनाओं को कषाय और चित्त के समाहित होने पर जो हर्ष होता है, उसे रसास्वादन कहते हैं ।

अधिक भोजन, अनिद्रा और अत्यधिक श्रम से लय होता है । युक्ताहार विहार से इसको दूर करना चाहिये । विक्षेप की अवस्था में चित्त का उद्‌बोधन करना चाहिये । भगवान् आद्य शङ्कराचार्य ने कहा है "चित्त की चञ्चलता को छोड़कर विवेक की तराजू में तौल । एक ओर तो समस्त विषयों को रख और दूसरी ओर भगवान् को और विचार कर कि तेरी विश्रान्ति और हित किसमें है ? युक्ति और अनुभव से जिसमें दिखलाई पड़े उसी का सेवन कर ।"

विषयों के दोषों और राग-द्वेष युक्त मन के तटस्थ निरीक्षण से कषाय दूर होता है और असंगता के द्वारा रसास्वाद से छुटकारा मिलता है । यद्यपि उपासना का विधान विस्तृत है, नवधाभक्ति उसी के अन्तर्गत है, पर जप और ध्यान उसमें प्रमुख हैं ।

भगवान् का ध्यान निराकार और साकार दो रूपों में किया जाता है । यदि

कोई कुएँ को आकाश से भरना चाहे तो उसमें से मिट्टी, पानी निकालना ही पर्याप्त होता है, आकाश को कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता, क्योंकि वह पहले से ही भरा रहता है । उसी प्रकार समस्त विषयों का चिन्तन छोड़ देना ही निराकार का ध्यान है । सुषुप्ति-जाग्रत्, श्वास-प्रश्वास या दो वृत्तियों की सन्धि में दृष्टि को केन्द्रित कर देने से निर्गुण निराकार परमात्मा का ध्यान सहज हो जाता है ।

साकार परमात्मा का ध्यान करने के लिए शिव, शक्ति, विष्णु, गणपति और सूर्य इन पञ्चदेवों या इनके अन्य रूपों को अपना इष्ट बनाकर इनके स्वरूप को ब्रह्मरन्ध्र, भ्रूमध्य या हृदय में देखते हुए नाम स्मरण किया जाता है । ध्यान के पूर्व अपने गुरु का स्मरण करने से इसमें सहायता मिलती है ।

यदि ध्यान में एकाएक मन न भी लगे तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये । यदि घोड़ा छूट गया हो तो उसके पीछे नहीं दौड़ना चाहिये, धीरे-धीरे उसके पास पहुँचकर पुचकारते हुए उसको पकड़ने में जैसे सुविधा होती है, उसी प्रकार मन का शनैः-शनैः निरोध होता है । यदि नाम स्मरण होता रहा तो नामी की हृदय में उपस्थिति अनिवार्य रूप से होगी ही ।

जिस प्रकार नदी की धारा को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिये दूर से ही प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार मन को मोड़ने के लिये दूर से ही प्रयत्न किया जाता है । मन को मोड़न के लिये भी तदनुरूप चर्या बनानी पड़ती है, सदाचार का पालन करना पड़ता है ।

जिन कार्यों से मन साधना से विमुख होता है, उनसे बचना आवश्यक होता है । उद्वेगजनक कर्म करने वालों से ध्यान नहीं हो सकता, उनका ध्यान तो उस सर्प के ध्यान के समान है, जो क्रोध में अपना फन ऊपर उठाये खड़ा रहता है ।

लौकिक सफलता के लिये भी भजन, ध्यान आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य की सफलता उसके कार्य की उत्तमता पर निर्भर होती है । उत्तम कार्य तभी होते हैं, जब निश्चय उत्तम होता है और उसी का निश्चय या निर्णय सही हो सकता है, जिसका मन सन्तुलित या निर्विकार होता है ।

जो व्यक्ति प्रतिदिन शान्त हृदय से ईश्वराधना करता है, उसके विचार शुद्ध हो जाते हैं । क्योंकि उसका मन उस समय काम क्रोध से उत्पन्न उद्वेगों से रहित हो जाता है ।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने बहुमूल्य क्षणों में से कुछ को भगवद्भजन और ध्यान में लगाना चाहिये ।

विचार और कार्य

सत्कर्म का सत्फल और असत् कर्म का असत् फल होता है, ऐसा आस्तिकों का विश्वास है। कर्म, निष्फल और व्यर्थ नहीं होते इसलिए अपने उज्ज्वल भविष्य के लिये सत्कर्मों का अनुष्ठान करना श्रेयस्काम पुरुष का कर्तव्य है। विचारों से कर्मों का अटूट सम्बन्ध है। **जानाति इच्छति अथ करोति** अर्थात् मनुष्य पहले जानता है, फिर इच्छा करता है और तब इच्छानुसार कार्य करता है। यह एक व्यापक नियम है। विचार ज्ञान का भी मूल है। विचार से ही निश्चय होता है। इस प्रकार विचार और कर्म परस्पर जुड़े हुए हैं। जिन कर्मों को हम स्वाभाविक और अनिवार्य समझते हैं, विचार द्वारा उनका सहसा विरोध नहीं किया जा सकता। पलक झपकना और श्वास-प्रश्वास जैसी चेष्टाएँ किसी कोटि के अन्तर्गत हैं। किन्तु विचारों में दृढ़ता और स्थैर्य आने पर सभी पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। विचार बुद्धि से होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में सात्विक-राजस-तामसभेद से बुद्धि तीन प्रकार की बतलाई गई है। सात्विक बुद्धि का लक्षण है- प्रवृत्ति-कर्तव्य-अकर्तव्य-भय-अभय तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से जानती है, वह सात्विकी है। सात्विकी बुद्धि ही सत् बुद्धि है। सत् बुद्धि ही सत् विचारों की जननी है। संसार के समस्त वैभवों को एक ओर रखकर देखें तो सद्बुद्धि की तुलना में वैभव लघु ठहरते हैं; गायत्री मन्त्र में सद्बुद्धि की प्राप्ति के लिये ही प्रार्थना की गई है। प्राणियों के अनेकों दुःखों का मूल प्रज्ञापराध या दुर्बुद्धि है। प्रज्ञापराध के कारण प्राणी स्वर्ग पाकर भी सुखी नहीं हो सकता क्योंकि दुर्विचारों से विवेक नेत्रों के निमीलित हो जाने पर मनुष्य को सन्मार्ग नहीं सूझता और उसके निर्णय तथ्यों के विपरीत हुआ करते हैं। जिससे व्यवहार और परमार्थ दोनों ही बिगड़ जाते हैं। इसलिये मनुष्यों को सद्बुद्धि और सद्विचारों की प्राप्ति एवं रक्षा के लिये जागरूक होकर प्रयास करना चाहिये भले ही व्यवहार में कुछ हानि उठानी पड़ जाय। परन्तु बुद्धि के मलिन होने पर विचार और कार्य मलिन हो जाते हैं, जो आगे चलकर एक अनर्थ कार्य परम्परा का सृजन कर देते हैं। निर्मल बुद्धि उसी को प्राप्त होती है, जो नियम पूर्वक प्रातः काल उठकर

उपासना या साधना करता है। सद्विचारों का उदय उसी समय होता है जब बुद्धि काम, क्रोधादि विचारों से अनाक्रान्त रहती है । जो निर्णय उद्विग्न बुद्धि से किये जाते हैं, उनको क्रियान्वित न करके सर्वप्रथम बुद्धि को उद्वेगरहित करने की चेष्टा करनी चाहिये और तब तक धैर्य-पूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये जब तक बुद्धि पूर्णतया विशुद्ध न हो जाय ।

बुद्धि के शुद्ध होने में कुछ समय भी लग जाय तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं । जहाँ से भी मार्ग फूटे हों वहाँ पर थोड़ा रुककर अपना अभीष्ट मार्ग जान लेना अच्छा होता है । बिना सोचे समझे किसी भी मार्ग से चलने पर उससे कहीं अधिक समय और श्रम लग सकता है । संयोग से मार्ग सही भी मिल जाय तो भी यह प्रवृत्ति आगे चलकर दुःखद ही सिद्ध होगी । मार्ग के चयन का यह प्रकार प्रत्येक प्रवृत्तियों पर लागू किया जा सकता है । बुद्धि की सात्विकता से विचार बलवान् होते हैं । बलवान् और उत्तम विचार कर्मों को परिष्कृत कर देते हैं । अभिप्राय के परिवर्तित हो जाने पर कर्मफल के परिवर्तन का नियम सर्वमान्य है। एक अभियुक्तोक्ति है- 'देखना यह नहीं है कि कर्म कौन-सा और किस परिमाण में किया गया है; अपितु यह देखना है कि कर्म किस बुद्धि से किया गया है और करने वाला उसका अधिकारी है या नहीं ।' सात्विक बुद्धि से किया गया कर्म कर्ता का मनोबल बढ़ाता है । उसको पश्चात्ताप और ग्लानि से मुक्त कराता है । उसी कर्म से मनुष्य की उन्नति हो सकती है; जिसके पीछे उसकी आसक्ति न हो और जो किसी महत्त्वपूर्ण प्रयोजन से छोड़ा जा सके । यही नियम विचार के लिये भी लागू होता है । जिस विचार में हमारी आसक्ति हो जाय और जिसको हम निर्विचार अवस्था की प्राप्ति के लिये छोड़ न सकें, वह आत्म कल्याणकारी साधक नहीं हो सकता । स्वस्थ अन्तःकरण वही है जो विचारों और संकल्पों से रहित किया जा सके । अन्तःकरण की यह अवस्था सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से ही सम्भव होती है । सत्त्वोत्कर्ष समस्त सिद्धियों का मूल है ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि बुद्धि चाहे जितनी ही निर्मल और कुशाग्र क्यों न हो, वह प्रमाणों का आश्रय लेकर ही यथार्थ ज्ञान उत्पन्न कर सकती है । यथार्थ ज्ञान के साधन प्रमाण कहलाते हैं । शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध के

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण तथा परोक्षज्ञान के लिये अनुमानादि प्रमाण माना जाता है।

जिस विषय का जो प्रमाण होता है, उस विषय के ज्ञान के लिये बुद्धि को उसी का आश्रय लेना पड़ता है। प्रमाण बहिर्भूत बुद्धि की व्यापार भ्रान्ति का ही सर्जन करता है अतएव राग-द्वेष से मुक्त, निष्पक्ष, प्रमाणपरतन्त्र और उचित अनुचित का निर्णय करने में समर्थ कुशाग्र बुद्धि को ही श्रेयोमार्ग के दर्शन का साधन समझकर वैसी ही बुद्धि के सम्पादन का प्रयत्न किया जाना चाहिये। कुछ लोग अन्तःप्रेरणा को ईश्वरीय आदेश की तरह मानते हैं किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार की अन्तःप्रेरणा उपयुक्त बुद्धि से ही प्राप्त की जा सकती है। वासना युक्त मन में तो अपनी ही वासना ईश्वर प्रेरणा के रूप में प्रतीत होने लगती है। बहुत से लोग यह कहते देखे जाते हैं कि हमें ईश्वर की प्रेरणा प्राप्त होती है पर अधिकांश की प्रेरणा उनकी भावनाओं के ही प्रतिबिम्ब के रूप में समझी जा सकती है। योगियों को साधना से परिष्कृत अन्तःकरण में प्रातिभ ज्ञान होता है, जिससे वे दूर और भूत भविष्य की बात जान लेते हैं। पर इसको प्रमाण कोटि में नहीं माना जाता। इस प्रकार के ज्ञान को भी तभी यथार्थ समझा जा सकता है जबकि उपयुक्त प्रमाणों से उसका सम्वाद होता हो। इस प्रकार का प्रातिभ ज्ञान दुर्लभ है। उच्चकोटि के साधकों को ही यह प्राप्त होता है। इस पर अभिमान नहीं करना चाहिए।

सार यह है कि हमारे कर्मों पर विचारों का, विचारों पर सात्विक बुद्धि का और उस पर शास्त्रों का नियन्त्रण होना चाहिये तभी हम निर्विघ्न साधनानुष्ठान करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हो सकते हैं।



श्रेय का वरण करें

हमारा देश भारत अध्यात्म-प्रधान देश है। प्रारम्भ से ही हमारे पूर्वज उस परमतत्त्व का अन्वेषण करते रहे हैं, जो इस विश्व-प्रपञ्च का स्रष्टा है, देश-काल-वस्तु की सीमा से परे अनन्त-अखण्ड-स्वप्रकाश है। जीवन की उन समस्याओं से जिनका हर प्राणी के अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक है, मुख न मोड़ते हुए क्षुधा-पिपासा, शीत-आतप आदि से शरीर की रक्षा करते हुए भी उन्होंने जीवन के चरम लक्ष्य की खोज पर निरन्तर ध्यान दिया।

इतने बड़े देश को विविध बाधाओं से बचाते हुए जिससे हमारी संस्कृति-सभ्यता और धर्म अपना जीवन्त अस्तित्त्व बनाये रख सके, वह न्यूनाधिक रूप से व्यक्ति और समाज का अध्यात्म के प्रति निरन्तर रुझान ही है।

आज का विश्व भौतिक-विज्ञान के द्वारा मानव के भोग-साधनों के अन्वेषण, उत्पादन, संकलन और वितरण में संलग्न है। हमारे सांख्यदर्शन के अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति स्वयं ही स्वभावतः पुरुष के भोग के लिए क्रियाशील है। विज्ञान ने इससे आगे बढ़कर प्रकृति से उपयोगी पदार्थों के दोहन का उपाय सुझाकर मानव की वासना और तृष्णा को अपरिमित रूप से बढ़ा दिया, फलतः मनुष्य ने अपना लक्ष्य ही भुला दिया। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि और प्रकृति की क्षमताओं का उपयोग तो मनुष्य ने विज्ञान के माध्यम से सीखा, पर इनकी क्षमता को अक्षुण्ण रखने और प्रकृति के अत्यधिक दोहन से जो हानि व्यष्टि-समष्टि में होती है, उसे पूर्ण करने में भौतिक-विज्ञान हमारी कोई सहायता नहीं करता।

उदाहरण के लिए अनिद्रा से हमारे शरीर में जो क्लान्ति आती है, उसे नींद की गोली खाकर सोने से दूर नहीं किया जा सकता, वह तो स्वाभाविक निद्रा से ही मिटेगी। भोगों से जो शरीर इन्द्रिय में क्षीणता आती है, उसको दूर करके पुनः स्वाभाविक रूप में लाने का भौतिक विज्ञान कोई उपाय नहीं बतला सकता। जरा-मरण से छुटकारा दिलाने की बात तो बहुत दूर की है।

संसार में भोग्य-पदार्थ और भोगने की शक्ति-सीमित ही है। उससे प्राणी को अनन्त असीमित सुख की प्राप्ति असम्भव है। जिस प्रकार ग्रीष्म के निदाघ से तप्त पिपासु हाथी की प्यास को क्षुद्र जलाशयों के सीमित जल से नहीं बुझाया जा

सकता, उसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों से सुख की प्यास नहीं बुझ सकती।

कठोपनिषद् में नचिकेता का उपाख्यान आता है-

उसके पिता ने यज्ञ किया, जब पिता दक्षिणा में ऋत्विजों को बूढ़ी गाय देने लगे तो उसे लगा मेरे प्रति मोह के कारण ही मेरे पिता अच्छी गायों का दान नहीं कर रहे हैं, वे उनको मेरे लिए बचाना चाहते हैं, जबकि उनका यह याग सर्वस्व दक्षिण है, जिसका अर्थ होता है वह याग जिसमें सर्वस्व दक्षिणा में दे दिया जाता है । पिता को स्मरण दिलाने के लिए उसने पूछा "आप मुझे किसको दे रहे हैं?" बार-बार प्रश्न करने पर पिता को क्रोध आ गया, उसने कह दिया-- "मैं तुझे मृत्यु को दूँगा" । पिता के क्रोध पर नचिकेता एकान्त में रोया । उसने मन में कहा- मैं अपने सहपाठियों में या तो प्रथम हूँ या फिर मध्यम । कनिष्ठ तो हूँ ही नहीं फिर क्या कारण है कि पिता मुझे मृत्यु को दे रहे हैं । फिर भी वह यमराज के यहाँ चला गया। यमराज घर में नहीं थे । नचिकेता उनके द्वार पर तीन रात्रि तक भूखा प्यासा बैठा रहा । जब यमराज ने आकर अपने घर में एक अतिथि को भूखे प्यासे बैठा देखा तो उनको मानसिक कष्ट हुआ उन्होंने नचिकेता से तीन रात्रि भूखे रहने के बदले तीन वरदान माँगने को कहा । नचिकेता ने पिता की प्रसन्नता और अग्नि विद्या दो वरदानों के रूप में माँगकर तीसरे वर के रूप में माँगा कि मनुष्य के मन जो यह संशय है कि मरने के पश्चात् उसका अस्तित्व रहता है या नहीं, मैं आपसे उसके रहस्य को जानना चाहता हूँ। मृत्यु के पश्चात् तो नचिकेता स्वयं को जान ही रहा था । वस्तुतः वह शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि से विलक्षण आत्मा के यथार्थ को जानना चाहता था । इस पर यमराज ने प्रलोभन दिया- सैकड़ों वर्षों तक जीवति रहने वाले पुत्र-पौत्र माँग लो, जब तक स्वयं जीवित रहना चाहो चिरजीवन माँग लो, पर मरण के सम्बन्ध में मत पूछो। यमराज ने आगे कहा- ये रथ, घोड़े और रमणियाँ ले लो, नृत्य गीत के सुख-साधन ले जाओ । किन्तु नचिकेता परीक्षा में उत्तीर्ण रहा, उसने कहा-भोग इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करते हैं, जिसमें सुख शान्ति न हो, ऐसे दीर्घ जीवन से भी क्या लाभ है। यह रथ-घोड़े- रमणियाँ-भोग-नृत्य और गीत आपके ही रहें । मुझे तो आत्मा का ही रहस्य बतलाइये।

इस पर यमराज प्रसन्न हुए उन्होंने नचिकेता को तत्त्वज्ञान का अधिकारी

समझकर श्रेय और प्रेय का विवेचन किया और कहा- जो इन्द्रियों के द्वारा भोगा जाता है, पहले भले ही सुख प्रतीत होता हो पर जिससे परिणाम में दुःख होता है, वह प्रेय है और जो आत्मज्ञान से अक्षय-सुख-शान्ति मिलती है, वह श्रेय है । मन्द पुरुष अपने जीवन में प्रेय का वरण करता है जब कि बुद्धिमान श्रेय का वरण करता है । अन्त में उन्होंने नचिकेता को ब्रह्मविद्या प्रदान करके कृतकृत्य कर दिया ।

आज इस बात की आवश्यकता है कि हम अपने भारतीय दृष्टिकोण से आज की भौतिक परिस्थिति को देखें और उसका मूल्यांकन करते हुए उसे अध्यात्म से समन्वित करें ।

भौतिक सुख एक छलना है, इसके लोभ से प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण न करें । ऐसा समन्वित जीवन बनायें जो प्रकृति को भोग सम्पादन के कार्य से ऊपर उठाकर मोक्ष का सम्पादन करने के लिये प्रेरित करे ।

गृहस्थाश्रम इस समन्वय का साधना-स्थल है । आजकल कुछ ऐसे भी तथाकथित अध्यात्मवादी हैं, जो अपने चमत्कारों से मनुष्य की अभिलाषाओं को पूरी करने का अपनी चेष्टओं से आश्वासन देना चाहते हैं । पर यदि ऐसे चमत्कार तृष्णा को बढ़ाते हैं तो अध्यात्म विरोधी हैं । उन्हें हमारे अध्यात्म शास्त्रों में विघ्न माना गया है । उनको पार करके ही अध्यात्म की उच्चकक्षा में जाया जा सकता है ।

हमारा दर्शन बहुत व्यापक है । इसमें कर्म उपासना, योग-ज्ञान सभी का उपयोग और समावेश है। अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार किसी भी मार्ग को अपनाकर श्रेय की ओर अग्रसर होने का प्रतिक्षण प्रयत्न करना चाहिए ।

हमें भौतिक-विज्ञान की अवहेलना नहीं करनी है, उसकी सीमा को समझते हुए उससे उसकी क्षमता से अधिक आशा न रखते हुए उसका उपयोग करना है । पर उसके प्रवाह में नहीं बहना है । मनुष्य को किसी भी अवस्था में विवेक का त्याग नहीं करना चाहिये । संसार में अनेकों प्रकार की लहरें आती हैं । उनकी थपेड़ उसी को लगती है, जो विवेक का साथ छोड़ देते हैं ।

पूर्ण विवेक ही प्रज्ञा है । जिसके द्वारा हम दृग्दृश्य का विवेचन करके दृश्यार्णव के तट बैठकर सभी प्रकार के उपद्रवों से छुटकारा पा सकते हैं ।

नैतिक मूल्यों के ह्रास को दूर करने का एक मात्र उपाय-धर्म

"**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**" इस वचन के अनुसार धर्म ही इस जगत् का आधार है । धर्म से रक्षित होकर ही मानव समाज सुनियन्त्रित और सुव्यवस्थित होता है । धर्म, व्यक्ति और समाज में समन्वय स्थापित करके व्यष्टि और समष्टि का समान रूप से हित साधन करता है ।

हमारे शास्त्रों में धर्म के कुछ ऐसे नियम बताये गये हैं जो समस्त मानव समाज के द्वारा अनुष्ठित होकर उसका श्रेय-साधन कर सकते हैं । धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, विज्ञान, सत्य और अक्रोध मनुस्मृति के अनुसार मानव धर्म हैं । श्रीमद्भागवत में समस्त मनुष्यों के लिये धर्म के तीस लक्षणों का वर्णन है- सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचित का विचार, मन का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी महात्माओं की सेवा, धीरे धीरे सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृत्ति, मनुष्य के अभिमानपूर्ण प्रयत्नों का फल उल्टा ही होता है ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों को अन्न आदि का यथायोग्य विभाजन, उनमें और विशेष करके मनुष्यों में आत्मा तथा इष्टदेवता का भाव, सत्पुरुषों के परम आश्रय भगवान् के नाम गुण लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण । नवधा भक्ति इन तीस साधनों के अन्तर्गत है । अध्यात्म रामायण में कुछ अन्तर से नवधा भक्ति का उपदेश शबरी को भगवान् राम ने दिया है - तदनुसार प्रथम सत्संग, द्वितीय भगवान् के जन्म-कर्मों की कथा का कीर्तन, तृतीय भगवद् गुण-गुणों की चर्चा, चतुर्थ भगवान् के उपदेशों की व्याख्या, पंचम अपने गुरुदेव की भगवद्बुद्धि से निष्कपट सेवा, षष्ठ पवित्रस्वभाव, यमनियमादि का पालन, भगवान् की पूजा में प्रेम, सप्तम मंत्रजप, अष्टम भगवद् -भक्तों को भगवान् से भी अधिक समझना, समस्त प्राणियों को भगवान् का ही स्वरूप समझना, बाह्य-पदार्थों में वैराग्य, शमदमादि सम्पन्न होना तथा नवम तत्त्वविचार करना नवधा भक्ति है, जो प्रेमलक्षणा भक्ति का साधन है।

उपर्युक्त धर्मों के पालन में सभी मानवों का समानरूप से अधिकार है। इनमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। आजकल भौतिक सुखों की लिप्सा और धन की तृष्णा ने मनुष्य को धर्म से विमुख कर दिया है, फलतः वह सदा अशान्त और व्यग्र रहता है। संसार की ठोकर खाकर यदि वह धर्म या साधु महात्माओं के निवास आता भी है तो उसी तृष्णा को लेकर आता है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म कल्पवृक्ष के समान है। कल्पवृक्ष के नीचे जो भी कल्पना की जाती है, वह पूर्ण होती है। सच्चे साधु-महात्मा भी अपने त्याग-तप से जीवों के दुःखों को दूर करने में सहायक बनते हैं। फिर भी नश्वर और दुःखमय संसार के स्वरूप का परिवर्तन कौन कर सकता है? वस्तुतः सुख-शान्ति का हेतु तो निष्काम कर्मों के आचरण से शुद्ध किया हुआ मन ही हो सकता है।

मनुष्य चाहे कितनी ही समृद्धि प्राप्त कर ले, भौतिक सुख-साधनों को एकत्र कर ले, बिना मन की निर्मलता के उसे शान्ति नहीं मिल सकती।

अध्यात्मशास्त्रों में कहा गया है-

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते, कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

अर्थात् लोक में जो काम सुख है और जो स्वर्गादि लोकों में दिव्य महत्सुख है, इन सबको मिलाकर भी यदि तृष्णाक्षय से होने वाले सुख के साथ तुलना करके देखा जाय तो यह सब उसके सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं ठहरते। भगवान् शङ्कराचार्य ने प्रश्नोत्तरी में कहा है-

तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति ?

अर्थात् स्वर्गपद क्या है ? इसका उत्तर है तृष्णा का क्षय।

आधुनिक समालोचकों ने हमारे भारतीय शास्त्रों और महापुरुषों के इन विचारों को निराशाजनक बतलाकर इसे देश की लौकिक अवनति का कारण मानकर कामना और तृष्णा की अभिवृद्धि को पुरुषार्थ का मूल कहा है, पर यदि विचार करके देखा जाय तो पता लगता है कि अत्यधिक तृष्णा और लोभ जितना सामान्य मनुष्य को अकर्मण्य बनाते हैं, उतने इस प्रकार के दार्शनिक विचार नहीं बनाते। क्योंकि गीताकार ने यह स्पष्ट बतलाया है कि अकर्मण्यता चित्त शुद्धि का साधन नहीं है।

उन्होंने कहा है–तेरा कर्म में अधिकार है, फल में नहीं । तू न तो फल-कामना से कर्म करके अपने बंधन का कारण बन, न ही अकर्मण्य होकर पाप का भागी ही ।

दूसरी ओर देखा जाय तो जब मनुष्य की भोगलिप्सा अत्यधिक बढ़ जाती है और उसका ईश्वर और धर्म पर विश्वास शिथिल हो जाता है तो वह अकार्य करने लग जाता है । ईर्ष्या, द्वेष से आक्रान्त होकर न्याय, नीति, श्रम और पुरुषार्थ को छोड़कर सुख की ओर दौड़ने लग जाता है । परिणामस्वरूप व्यक्ति और समाज का नैतिक पतन हो जाता है । जिससे अनाचार, दुराचार की वृद्धि होती है । मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों के पीछे कुछ भी करने में संकोच का अनुभव नहीं करता ।

आज हमारा देश स्वतन्त्र है । देश का निर्माण हम अपनी इच्छा के अनुसार कर सकते हैं, फिर भी देश में नैतिक मूल्यों का ह्रास बढ़ता जा रहा है । देश और समाज के घातकों की संख्या बढ़ रही है । यही कारण है कि हमारे सामने अनेकों समस्याएँ खड़ी हो गई हैं, जिनका कोई समाधान ही नहीं सूझ रहा है ।

वस्तुतः जब तक व्यक्ति की भौतिक सुखों की तृष्णा को नियन्त्रित नहीं किया जायेगा तब तक न तो समाज में हिंसा दूर होगी और न घृणा, द्वेष तथा ईर्ष्या ही । यह कार्य बिना अध्यात्म और धर्म के नहीं हो सकता ।

यह एक विचित्र बात है कि आज व्यक्ति या समाज अपने वैयक्तिक या राजनीतिक स्वार्थ के लिये धार्मिक भावनाओं का उपयोग तो करना चाहता है पर उसका आचरण या पालन नहीं करना चाहता । किन्तु जब तक हम अपने जीवन में धर्म को स्थान नहीं देंगे, तब तक उससे लाभ मिलना सम्भव नहीं है । देश को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो देश के लिये सर्वस्व त्याग कर सकें पर क्या जिनके जीवन में उपर्युक्त धर्म नहीं है, उनसे ऐसी आशा की जा सकती है ?

अध्यात्म, भौतिक समृद्धि या उसके लिये किये जाने वाले पुरुषार्थ का विरोधी नहीं है । पर वह चाहता है समृद्धि धर्म के मार्ग से आये । मनुष्य उसका अभिमान न करे, उसका भोग धर्मानुसार बांटकर करे । आज के मानव को अपने सुख की परिभाषा बदलनी चाहिये । उसे यह जानना चाहिये कि जितनासुख

सुस्वादु पदार्थों से अपना पेट भरने से मिलता है, उससे कई गुना सुख भूख से पीड़ित किसी मानव की जठराग्नि को वैश्वानर भगवान् समझकर उसको खिलाने से प्राप्त होता है । निर्मल अन्तःकरण वाला पुरुष सुख के लिये बाह्य परिस्थितियों के परतन्त्र नहीं रहता । उसका सुख ग्रहण में नहीं वरन् त्याग में निहित होता है। जबकि मलिन हृदय सदा सुविधायें ढूंढ़ता रहता है और सदा अपेक्षित सुविधायें मिलती नहीं, इस कारण से और अशान्त, दुःखित ही बना रहता है । वर्तमान परिस्थितियों में भटकती मानवता को अपने अध्यात्म, संस्कृति और धर्म का पुनः मूल्यांकन करके उसकी ओर अभिमुख होना चाहिये ।



बुद्धिवाद का त्याग करके बुद्धियोगी बनने में ही सबका कल्याण

आध्यात्मिक ग्रन्थों में कहा गया है कि – "**अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तयेत्** " अर्थात् बंधन अविचारकृत है, उसे विचार से निवृत्त करना चाहिये । विचार परायण होना सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान का सर्वोत्तम उपाय है।

यद्यपि आज के युग में विचारों की न्यूनता नहीं, फिर भी अनेकों समस्याएँ इसलिए बनी हुई हैं क्योंकि विचारकों के अधिकांश विचार दूसरों के लिए ही होते हैं, अपने लिये नहीं । वस्तुतः विचार अपने लिये ही होना चाहिये ।

आध्यात्मिक साधना में एकान्त सेवन को इसीलिए महत्व दिया गया है कि उक्त अवसर पर हम अपने सम्बन्ध में सोचें और देखें कि जो कुछ हम कहते सुनते हैं, उसको अपने आचरण में कितना ला रहे हैं । विद्वज्जन तर्क और युक्ति से संसार को मिथ्या सिद्ध कर देते हैं, उसके विरुद्ध शङ्काओं का अकाट्य उत्तर भी दे सकते हैं । पर प्रश्न तो यह है कि व्यवहार काल में कितनी देर जगत् में मिथ्यात्वबुद्धि रख पाते हैं।

यों तो मनुष्य के मन में अनेकों प्रकार के विचार आते हैं पर उसका अपना विचार वही है, जो उसका आशय बनकर क्रियान्वित होता है और जीवन को प्रभावित करता है । क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति मात्र कुछ समय की चर्चा नहीं अपितु जीवन के सम्पूर्ण समर्पण की अपेक्षा रखती है ।

प्रायः लोगों की धारणा है कि धर्माचरण, सत्संग और साधना जीवन को उज्ज्वल और सुखशान्तिमय बनाने के लिये है, जिसका फल प्रारम्भ मरण के पश्चात् होता है । किन्तु यह धारणा एकांगी है । यदि हम चाहें तो इन आध्यात्मिक उपायों से हमारा वर्तमान जीवन भी उज्ज्वल और सुखद हो सकता है ।

जीवन की अनेकों जटिल समस्याओं का निर्माण अपने अविचार से हम स्वयं करते हैं । यदि मनुष्य अपने उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के उपाय का सही निर्धारण कर ले और मानसिक आवेगों से मुक्त होकर वही करे जो उसके उद्देश्य की सिद्धि का वास्तविक उपाय है तो बहुत सी समस्याओं का हल सहज

ही निकल सकता है । काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, ईर्ष्या, दम्भ, द्वेष आदि के प्रभाव से बुद्धि को मुक्त करके ही ऐसा किया जा सकता है ।

भूल यह है कि पहले तो हम अपने उद्देश्य को ही स्थिर नहीं रख पाते और यदि उद्देश्य का विस्मरण न भी हो तो उपायों को छोड़कर अपायों को आचरण में लाने लगते हैं । उदाहरण के रूप में समझ सकते हैं -

बहुत से लोग अपने पारिवारिक जीवन में सौमनस्य लाना चाहते हैं, यह भी जानते हैं कि हमारे इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी हमारे प्रतिकूल न बनें, पर उनसे ऐसा व्यवहार बन जाता है जिससे सबका सब बिगड़ जाता है । जब दूसरों की प्रतिक्रिया सामने आती है तब हम कभी तो पश्चात्ताप करके उसको सुधारने का प्रयत्न करते हैं तो कभी सोच ही नहीं पाते कि ग्रंथि कौन सी है और खोलने के लिये क्या करना चाहिये? इसी से बहुतों का दाम्पत्य-जीवन, पारिवारिक-शान्ति और सामाजिक-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है । सब लोग कर्म करते हैं । जब उनसे पूछा जाता है कि काम क्यों करते हो, तो उत्तर मिलता है कि यदि काम न करेंगे तो खायेंगे क्या ? फिर यदि यह पूछा जाय कि जीते किसलिए हो ? तो कहेंगे काम करके खाने के लिये। पर यह उत्तर सही नहीं है । जीने का उद्देश्य कुछ और ही है । हम इन्हीं प्रश्नोत्तरों के भीतर देखें कि कितने लोग जीने के लिये खाते हैं और कितने लोग जीने के लिये कर्म करते हैं ?

बहुत से लोग सुखमय जीवन बिताने के लिए धन कमाने चलते हैं पर तृष्णा इतनी बढ़ जाती है कि उसके लिये अपना स्वास्थ्य और सुख-शान्ति को ही चौपट कर लेते हैं । यह बात भूल जाते हैं कि शरीर के लिए धन है न कि शरीर धन के लिये । साधन कभी साध्य नहीं हो सकता । उसको साध्य से पीछे रखने में ही बुद्धिमानी है । इसी क्रम से यदि हम विचार करते चलें तो हम अपने जीवन की मूल समस्या का भी हल खोज सकते हैं ।

उपनिषदों के द्रष्टा ऋषियों ने हमें बताया है कि **''न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः''** अर्थात् धन से मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता । सांसारिक भोग नश्वर हैं। वे इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करते हैं । कितना ही लम्बा जीवन हो, थोड़ा ही है ।

नचिकेता यमराज के द्वारा प्रलोभन दिये जाने पर कहता है -

श्वोऽभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।

अर्थात् जो पुत्र-पौत्र, नृत्य-गीत, धन-सम्पत्ति और दीर्घ-जीवन आप मुझे देना चाहते हैं, वे सब नश्वर और परिणाम में दुःख देने वाले हैं । दीर्घजीवन भी सुख साधक नहीं हैं । इसलिये यह सब आप अपने पास रखें ।

विज्ञान की चकाचौंध और आधुनिकता के प्रवाह से अन्धा मनुष्य जब तक ऋषि मुनियों के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को नहीं अपनायेगा तब तक भटकता ही रहेगा । भौतिकवादी दृष्टिकोण को छोड़कर ही हम अपने वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक जीवन को शुद्ध बना सकते हैं ।

भोगों की तृष्णा ने आज के नवयुवकों को अत्यधिक प्रभावित किया है । बहुत से तथाकथित विचारक भौतिक तृष्णा के औचित्य की स्थापना का प्रयास करके आग में घी डालने का काम कर रहे हैं।

वस्तुतः जिस ओर प्राणी की राग से सहज ही प्रवृत्ति होती है, उसके लिये उपदेश की आवश्यकता नहीं है । उपदेश की आवश्यकता उसके लिये है, जिसमें उसकी सहज प्रवृत्ति नहीं है ।

पशु पक्षियों को सांसारिक भोगों की शिक्षा कौन देता है ? आवश्यकता है प्रवृत्तियों को उचित दिशा देकर नियन्त्रित करने की । धर्म यही करता है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है–

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।

अर्थात् भरतश्रेष्ठ! धर्म से अविरुद्ध काम मेरा ही स्वरूप है । अर्थ भी बुरी वस्तु नहीं है । यदि उसका उपार्जन धर्मानुसार और धर्म के ही उद्देश्य से किया जाय । धर्म, अर्थ और काम का सेवन मर्यादित रूप से करने की शिक्षा देता है।

मन और इन्द्रियों का नियन्त्रण भोगों के लिए भी आवश्यक है । नियमों का पालन सर्वत्र अपेक्षित होता है । अर्थ और भोग की तृष्णा से ही परस्पर वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष और हिंसा की भावना बढ़ती है । पारस्परिक प्रेम के ऊपर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है । भारतीय जीवन-दर्शन को छोड़कर यदि हम अपनी व्यक्तिगत या सामाजिक उन्नति करने चलेंगे तो भटक जाएंगे । आज

ऐसा ही हो रहा है । बुद्धिवादी तो बहुत हैं पर बुद्धियोगी बहुत ही कम हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने बुद्धिवादी अर्जुन को बुद्धियोगी का उपदेश देकर स्वस्थ बनाया था ।

यदि आचरण में पवित्रता लानी है तो अपने जीवन के चरम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति का निरन्तर स्मरण रखते हुए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी प्रस्थापना करके सतत उपाय और उपेय का समन्वय बनाये रखना चाहिए । इस बात पर सूक्ष्म दृष्टि रखनी चाहिये कि हमारे कार्य और भावनाएँ हमें प्रतिकूल दिशा में तो नहीं ले जा रही हैं ।

सब प्रकार प्रलोभन और भटकाव से मुक्त होकर तीव्र अभीप्सा को लेकर लक्ष्य की प्राप्ति के साधनानुष्ठान करना चाहिये, जिससे इसी जीवन में अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो सके ।



समीक्ष्यकारी ही सच्चे अर्थों में मानव है

चौरासी लाख योनियों में मनुष्य योनि इसलिये श्रेष्ठ मानी जाती है कि जैसे अन्य योनियों में प्राणी प्रकृति परतन्त्र होता है, उस प्रकार मनुष्य योनि में नहीं होता। मनुष्य शरीर में बुद्धि का पूर्ण विकास होता है, जिससे वह उचित-अनुचित, युक्त-अयुक्त का विचार करने में सक्षम होने के कारण प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक कर सकता है। यही कारण है कि मनुष्य के ऊपर शास्त्रों के विधि-निषेध लागू होते हैं। विधि-निषेध मनुष्य की स्वतन्त्रता छीनने के लिये नहीं वरन् उसको सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र बनाने के लिये है। यदि मनुष्य को धर्म-अधर्म का, सुख और दुःख का वास्तविक ज्ञान न हो तो वह गहन अन्धकार में पड़कर कष्ट का अनुभव करता है, इसलिये वास्तविक पुरुषार्थ (पुरुष का प्रयोजन) प्राप्त करने के लिये प्रत्येक विचारशील पुरुष को शास्त्रों और गुरुजनों का मार्ग निर्देश प्राप्त करना चाहिये।

समस्त प्राणियों का मुख्य प्रयोजन समस्त दुःखों की आत्यन्तिक-निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये वह सतत् प्रयत्न भी करता है पर परिणाम विपरीत ही देखा जाता है क्योंकि असम्यक् मार्ग से सम्यक् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सामान्य रूप से सभी प्राणी सुख के लिए ही सांसारिक भोगों की ओर दौड़ते हैं और उनकी प्राप्ति को ही सुख समझते हैं, पर यह धारणा भ्रान्ति है। विवेकी पुरुष इससे ऊपर उठता है। वह देखता है कि जिसमें राग होता है, उसी की प्राप्ति से सुख होता है।

प्रथम राग ही उद्भूत होकर विषय की प्राप्ति से सुख रूप में परिणत होता है। राग प्रतिक्षण बढ़ता है और जब तक इष्ट विषय की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक उससे दुःख का अनुभव होता रहता है और जब भोग प्राप्त हो जाता है तब क्षणिक तृप्ति के पश्चात् यह मिलता ही रहे, इस तृष्णा के कारण पुनः अतृप्ति और दुःख का कारण बनता है। भोगाभ्यास से इन्द्रियों की कुशलता और अधिक बढ़ती है। साथ ही जब सुख का अनुभव होता है तब उसके प्रतिकूल दुःख के साधनों से द्वेष होता है। द्वेष ताप है, द्वेष के पीछे यह भावना होती है

कि दुःख के साधन मुझे न हों । पर यह कभी संभव नहीं है कि सुख के विरोधी सदा दूर किये जा सकें। ऐसी स्थिति में दुःख अनिवार्य है । इसके अतिरिक्त जब तक हम मन, वचन और कर्म से दूसरों की हिंसा नहीं करेंगे तब तक भोग नहीं भोग सकते । जो अधर्म-बनकर कालान्तर में दुःख का कारण होगा ।

मनुष्य का मन एक सा नहीं रहता, उसमें सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण जो सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करते हैं, कभी उद्भूत होते हैं और कभी अभिभूत । जिससे एक ही वस्तु कभी सुख-रूप प्रतीत होती है और कभी वह सदा सुख का अनुभव नहीं करा पाती है ।

किन्तु यह बात सबकी समझ में नहीं आती है । जिसका अन्तःकरण निर्मल है, वही भोगों की दुःखरूपता को समझ सकता है । योगदर्शन में कहा है कि योगियों का चित्त अक्षिपात्र (आँख का गोलक) के समान होता है, जैसे आँख में एक मकड़ी का जाला भी कष्ट देता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् निर्मल हृदय वाले को सांसारिक भोग दुःखरूप ही प्रतीत होते हैं ।

बुद्धिमान् मनुष्य की जिज्ञासा उसको भोगों से ऊपर ले जाती है । वह सुख की खोज में अध्यात्म शास्त्रों और तत्त्वदर्शी महापुरुषों से मार्गदर्शन ग्रहण करता है । अध्यात्मशास्त्र बतलाते हैं कि राग और तृष्णा के क्षय से जो सुख मिलता है, उसकी बराबरी सांसारिक तो क्या दिव्य भोग भी नहीं कर सकते । कहा है-

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।

अर्थात् जो लोक में काम सुख है और जो स्वर्गादि लोकों में महत् सुख है, वे तृष्णा के क्षय से मिलने वाले अद्भुत सुख की सोलहवीं कला के समान भी नहीं है । भगवान् शङ्कराचार्य प्रश्नोत्तरी में कहते हैं- **'तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति'** अर्थात् स्वर्गपद क्या है ? उत्तर है- तृष्णा का क्षय ।

वास्तव में सुख तो अपना स्वरूप ही है । गाढ़निद्रा में जब प्राणी सुषुप्ति अवस्था में चला जाता है तब उसको जिस सुख का अनुभव होता है, वह निश्चय ही भोगजन्य नहीं है क्योंकि उस समय शरीर, इन्द्रिय, मन सभी निश्चेष्ट रहते हैं । बिना इनके सचेष्ट हुए भोग नहीं होता । फिर भी वहाँ सुखानुभूति होती है । वह इतना विलक्षण होता है कि मनुष्य उसके बिना पागल हो जाता है । पागल को

नींद नहीं आती ।

सुषुप्ति में सुख के साथ अज्ञान भी रहता है, इसलिये अध्यात्म के साधक इस सुख का अनुभव करने के लिये निद्रा का त्याग कर ध्यान, समाधि और भगवद्भजन के द्वारा इसको प्राप्त करते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् वासुदेव कहते हैं- बाह्यभोगों में अनासक्त साधक अपनी आत्मा में जिस सुख का अनुभव करते हैं, ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं के लिये वह अक्षय होता है । विद्वान् इसका अर्थ करते हैं कि समाधिनिष्ठ को प्रत्यगात्मा के अनुभव का सुख मिलता है जबकि तत्त्वदर्शी ज्ञानी को अनन्त-अखण्ड-अपरिच्छिन्न ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यक्चैतन्य का अपार-अक्षय सुख प्राप्त होता है ।

इस सुख के प्राप्त हो जाने पर संसार के सभी भोगजन्य सुख इसके अन्तर्गत आ जाते हैं । जिस प्रकार सब ओर से परिपूर्ण अमृततुल्य मधुर जल के समुद्र के प्राप्त हो जाने पर वापी-कूप-सरोवर के जल की अपेक्षा नहीं रहती, उसी प्रकार पारमार्थिक सुख के प्राप्त होने पर सांसारिक सुखों की अपेक्षा नहीं रहती। उसको प्राप्त कर लेने पर कुछ भी प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं रह जाता । वह साधक कृतकृत्य हो जाता है।

शास्त्रों में जिन कर्मों को न करने योग्य बतलाया गया है, उनका त्याग करते हुए विहित कर्मों का अनुष्ठान कर उनमें फल की आकांक्षा न रखना, संसार के एवं सांसारिक भोगों के यथार्थ रूप पर विचार करना, सत्पुरुषों का सत्संग करना, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर उनके निर्देशानुसार नियमित रूप से साधानाभ्यास करना, राग-द्वेष और अभिनिवेश से मुक्ति के लिये यत्न करना, संसार की निःसारता और दुःखरूपता को समझना और परब्रह्म परमात्मा की भक्ति एवं ज्ञान प्राप्त करना यही बुद्धिमत्ता है ।

दूसरों का अन्धानुकरण छोड़कर समीक्ष्यकारी होकर ही मानव अपनी समग्र क्षमता का सदुपयोग कर सकता है । हमें मानव शरीर से वही करना चाहिये जो पशु-पक्षी आदि अन्य शरीरों से न किया जा सकता हो ।

मानव शरीर परमेश्वर की सर्वोत्तम कृति है, उनकी कृपा से इसकी प्राप्ति हुई है और कमल पत्र के जल के समान मानव जीवन अतिशय चपल है, इस बात का हमें सदा ध्यान रखना चाहिये ।

आस्तिकता ही आध्यात्मिक साधना की सफलता का आधार

देह, प्राण, मन, बुद्धि से विलक्षण नित्य आत्मा का अस्तित्त्व है । पुनर्जन्म होता है । परलोक, धर्म-अधर्म सभी सत्य हैं । जगन्नियन्ता, सर्वकारण, सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, कर्मफलप्रदाता, अकारणकरुण-करुणावरुणालय, निखिल हेय-प्रत्यनीक, अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणगणैकनिलय, सर्वकर्ता, सर्वभर्ता, सर्वहर्ता, दीनबन्धु, सज्जनों का रक्षक, दुष्टदमनकारी परमात्मा है जो उपर्युक्त गुणों से समलङ्कृत होने के साथ-साथ अजर, अमर, अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, अशब्द, अस्पर्श, अरस, अरूप, अगन्ध, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, एकात्म-प्रत्यसार भी है । सृष्टि के प्रारम्भ में जिसकी प्रेरणा से ऋषि-मुनियों के हृदय में वेदमन्त्रों का आविर्भाव होता है । जिन मन्त्रों के समूह को अनादि अपौरुषेय वेद कहा जाता है । ऋषि इन मन्त्रों के कर्ता नहीं वरन् द्रष्टा हैं। इन्हीं मन्त्रों का संकलन करके महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में इनको विभक्त करते हैं ।

'शिष्यते हितम् उपदिश्यते अनेन इति शास्त्रम्'

इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद ही शास्त्र हैं । क्योंकि उनके द्वारा प्राणिमात्र के हित का ज्ञान होता है। रामायण और महाभारत हमारे इतिहास हैं । इतिहास तथा पुराण वेदों के व्याख्यान हैं । इनमें वेदों के सिद्धान्तों को विविध कथाओं के द्वारा समझाया गया है ।

जिस प्रकार शब्द के लिये श्रोत्र, स्पर्श के लिये त्वचा, रूप के लिये नेत्र, रस के लिये रसना (जिह्वा) और गन्ध के लिये घ्राण (नासिका) प्रमाण होती हैं, उसी प्रकार धर्म और ब्रह्म के ज्ञान के लिये शास्त्रों को प्रमाण माना जाता है ।

वेद के अनुकूल होने के कारण विभिन्न ऋषियों द्वारा निर्मित स्मृतियों तथा व्यास कृत पुराणों और ऋषियों के द्वारा निर्मित संहिताओं को भी प्रमाण माना जाता है । इसी प्रकार हमारे तन्त्रग्रन्थ भी प्रमाण हैं जिनकों आगम कहा जाता है। ईश्वरनिर्मित ग्रन्थों को आगम कहते हैं । आगमों में विविध प्रकार के मन्त्रों उनके ऋषि, छन्द, देवता तथा उनका न्यास, ध्यान, पूजा की पद्धति, कवच,

हृदय, सहस्रनाम आदि विस्तार से बताये गये हैं। जो अर्थ, धर्म, काम, मोक्षरूप फल प्रदान करते हैं । वेदों के मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं । जिनमें कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन काण्डों का प्रतिपादन है । प्रसङ्गवशात् अनेकों सृष्टि के रहस्यों का भी इनमें वर्णन है जो आज के भौतिक विज्ञान के युग में भी विज्ञ विचारकों की बुद्धि को चमत्कृत करते हैं । न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा हमारे छः दर्शन हैं । जिनमें योग-शास्त्र हमारे शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य को ठीक करने में हमारा मार्गदर्शन करता है ।

वेदों के उपासनाकाण्ड को भक्ति कहा गया है । भक्ति शब्द श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है यह वेदों के मन्त्र भाग का उपनिषद् है, इसलिये मन्त्रोपनिषद् कहा जाता है । वह मन्त्र है-

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

अर्थात् जिसकी अपने इष्ट देव परमात्मा में पराभक्ति है और जैसे इष्टदेव में भक्ति है, उसी प्रकार गुरु में भी है । उपनिषद् के अर्थ उसी महात्मा के हृदय में प्रकाशित होते हैं ।

प्रत्येक प्राणी आनन्द चाहता है । यद्यपि आनन्द का कोई भौतिक रूप नहीं है फिर भी संसार उस के लिये व्याकुल रहता है । वह आनन्द रहित जीवन से मृत्यु को अच्छा समझता है । वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार आनन्द निरुपाधिक रूप में सबका अन्तरात्मा है । आत्मा सबको सर्वाधिक प्रिय है । और जिसमें प्राणी का सर्वातिशायी प्रेम होता है, उसी में उसको आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिये आनन्द और आत्मा एक है ।

आत्मा से अभिन्न आनन्द जड़ न होकर चैतन्य है । जो लोग जड़ विषयों में आनन्द की खोज करते हैं, वे नासमझ हैं । अनुकूल विषयों का जब इन्द्रियों से सन्निकर्ष होता है तब चित्त में प्रसन्नता और एकाग्रता के कारण आत्मचैतन्य की क्षणिक अभिव्यक्ति होती है, यही विषयानन्द है । चित्त की बाह्य साधनसापेक्ष स्थिरता स्थायी नहीं हो सकती । इसलिये धर्माचरण से इन्द्रियों और मन को संयत करके अन्तर्मुखता लाने का प्रयास किया जाता है । जिससे बाह्यविषयों से निरपेक्ष होकर निर्वासनिक अन्तःकरण द्वारा उस स्वस्वरूप आनन्द का साक्षात्कार किया जा सके । उपनिषदों में बताया गया है -

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।

अर्थात् जब मन के सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, बुद्धि भी विचार रूपी चेष्टा का त्याग कर देती है, उसको विज्ञ जन परमगति कहते हैं।

इसी अवस्था का दूसरा नाम निर्विकल्प समाधि है। निर्विकल्पता दो वृत्तियों की सन्धि में सहज ही आती रहती है। वृत्ति को ही विकल्प कहते हैं। एक विकल्प के नष्ट होने के अनन्तर जब तक दूसरे विकल्प का उदय नहीं हुआ तब तक निर्विकल्प चैतन्य का स्पष्ट भान होता है। प्राण और अपान के मध्य में सुषुप्ति और जाग्रत् के मध्य में दृष्टि केन्द्रित करने पर इसकी अनुभूति होती है। योगवासिष्ठ में काकभुशुण्ड से जब जिज्ञासा की गई कि 'आप किस देवता की उपासना करते हैं तो उसके उत्तर में उन्होंने कहा–

प्राणापानयोर्मध्ये चिदात्मानमुपास्महे ।

अर्थात् प्राण और अपान के मध्य जो चैतन्य आत्मा है, मैं उसी की उपासना करता हूँ। इसी को सहज समाधि भी कहते हैं।

पर इस प्रकार की साधना के लिये वैराग्य और सूक्ष्मबुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। जो सर्वसाधारण के लिये सहज सुलभ नहीं है। **'रसो वै सः'** इस श्रुति वचन के अनुसार आनन्द को ही रस भी कहा जाता है। साहित्य शास्त्रियों की परिभाषा के अनुसार स्थायी-भाव से उपहित चैतन्य ही रस-शब्द-वाच्य होता है।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार यदि स्थायी श्रीकृष्ण हों तो यही भक्तिरस हो जाता है। भक्तिरस की अद्भुत महिमा है। हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि कोई सच्चा प्यार करने वाला उसको मिले, जिससे वह भी सच्चा प्यार कर सके। प्रत्येक व्यक्ति का कोई न कोई प्रेमास्पद अवश्य होता है। पर संसार में उसको निराशा ही हाथ लगती है। सभी में कुछ न कुछ स्वार्थ दिखलाई पड़ता है। वह स्वयं भी स्वार्थ रहित प्रेम किसी से नहीं कर पाता। बिना सच्चे प्रेम का जीवन नीरस होता है। प्रियजनों की मृत्यु, विश्वासघात और अपनी शारीरिक असमर्थता भी नैराश्यजन्य नीरसता का अनुभव कराती है। हृदय की नीरसता को दूर करने का एकमात्र उपाय भगवद्भक्ति है। जहाँ अपनत्व की भावना होती है, वहीं प्रेम होता है। भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़कर उनकी अपने ऊपर कृपा की अजस्र वर्षा का निरीक्षण करने से क्रमशः

भक्तिरस का उद्‌गत स्रोत हृदय को सरस बना देता है । नवधा भक्ति भगवत्प्रेम का आधारभूत साधन है । इस मार्ग पर चलकर अनेकों गृहस्थों विरक्तों नर-नारियों ने अपने आपको धन्य बनाया है ।

निर्विषय चित्त की ब्रह्माकारता को ज्ञान तथा द्रवित चित्त की भगवदाकारता को भक्ति कहा जाता है । दोनों में रस एक ही है– एक में निरूपाधिक और दूसरे में सोपाधिक, और वह है परमानन्द स्वरूप आत्मा।

पर जब तक कर्म के क्षेत्र में शुद्धि नहीं आ जाती तब तक अन्तःकरण किसी भी साधना के अंकुरित विकसित पल्लवित पुष्पित और फलित होने की योग्य भूमि नहीं बन सकता ।

आध्यात्मिक विकास के लिये अपनी देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि की सभी चेष्टाओं को शास्त्रानुकूल बनाना नितान्त आवश्यक है ।

धार्मिक संस्कारों से संस्कृत क्रिया कलाप ही संस्कृति कहलाते हैं । भूषणभूत कृति को ही संस्कृति कहते हैं । क्रियाओं की धर्ममयता ही उनका भूषण है । मनुष्ययोनि कर्मयोनि है । उसकी समस्त चेष्टायें धर्म और अधर्म बन जाती हैं । जीवन को धर्ममय बनाने के लिये आस्तिकता की आवश्यकता है । आस्तिकता की परिभाषा है –

'वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः आस्तिक्यम्'

अर्थात् 'वेद ने जिसको कर्तव्य बताया वह धर्म और जिसको अकर्तव्य बतलाया वह अधर्म है' इस बात पर विश्वास रखना ही आस्तिकता है ।

जो मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक पाप करते हैं, उनके अन्तःकरण से आस्था एवं आस्तिकता चली जाती है । इसलिये यह परम आवश्यक है कि हम सदाचार का पालन करते हुए दुःसंग से दूर रहकर सत्पुरुषों का संग करें और उनके द्वारा बतलाये शास्त्रसम्मत मार्ग पर आरूढ़ होकर योग, भक्ति और ज्ञान के द्वारा उच्च, उच्चतर और उच्चतम अनुभूति के आलोक से स्वयं को आलोकित करें ।

सनातन वैदिक धर्म में निर्गुण निराकार ब्रह्म, शिव-शक्ति, विष्णु-गणपति और सूर्य में से किसी को भी अपना इष्ट बनाया जा सकता है । इन छः रूपों में परमेश्वर की उपासना को षण्मत कहा जाता है । भगवान् आद्य शङ्कराचार्य ने इन्हीं छः प्रकार की उपासनाओं का प्रचार किया था । इसी कारण उनको षण्मतस्थापनाचार्य कहा जाता है ।

परमार्थ - पथ

मनुष्य अपनी समस्त चेष्टाओं के द्वारा दुःखों की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति चाहता है। सुख की इच्छा मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है। सुख के साधनों की इच्छा कृत्रिम और परिवर्तनशील होती है। सुख के साधनों के प्रति प्राणी का राग अव्यवस्थित होता है। जो प्राणी या पदार्थ आज सुख का साधक प्रतीत होता है, वही कल सुख का बाधक प्रतीत होने लगता है। इसी कारण उसकी प्रियता परिवर्तित होती रहती है। जीवन में ऐसे अनेकों अवसर आते हैं जब अत्यन्त प्रिय व्यक्ति अप्रिय और अप्रिय व्यक्ति प्रिय हो जाते हैं। मित्र शत्रु और शत्रु मित्र बन जाते हैं। पर यह स्थिति सुख के साधनों की है, सुख की नहीं। सुख कभी अप्रिय नहीं होता। सुख के साधनों के प्रति भ्रान्त धारणा के कारण ही कभी किसी प्राणी या पदार्थ में राग या किसी में द्वेष होता है। अध्यात्म-शास्त्रों में प्रज्ञापराध को दुःखों का कारण बताया गया है। प्रज्ञापराध अर्थात् उचित-अनुचित के अविवेक से धर्म में अधर्म की बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि हो जाती है। फलतः जहाँ प्रवृत्ति होनी चाहिये वहाँ प्रवृत्ति और जहाँ से निवृत्ति होनी चाहिये वहाँ निवृत्ति नहीं होती। यही कारण है कि जिससे प्राणी सुख चाहते हुए भी दुःख पाता है। अतः यह आवश्यक है कि इस प्रज्ञापराध को मिटाया जाय। इसके कारण ही हम कभी किसी को पकड़ते और किसी को छोड़ते हैं। अनन्त जन्मों से यही क्रम चल रहा है।

वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो बाह्य साधनों की अपेक्षा सुख-दुःख का सम्बन्ध मन से अधिक है। बाह्य साधनों से तभी तक सुख मिलता है जब तक मन प्रसन्न रहता है। मन के शोक-मोह से ग्रस्त रहते अनुकूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध प्राप्त होने पर भी प्राणी को सुखी नहीं बना पाते। दुःख के साधन भी मन को ही अधिक प्रभावित करते हैं। रोग, अप्रिय घटनाओं की प्राप्ति, अधिक परिश्रम और प्रिय वस्तुओं का वियोग इन चार कारणों से शारीरिक दुःख प्राप्त होता है। समय पर इन चारों का प्रतिकार करना एवं कभी भी इनका चिन्तन न करना यह दुःख निवारक उपाय है। अतः बुद्धिमान् वैद्य प्रिय वचन बोलकर तथा हितकर भोगों की प्राप्ति कराकर पहले मनुष्यों के

मानसिक दुःखों का ही निवारण किया करते हैं। जैसे तपा हुआ लोहे का गोला डाल देने पर घड़े का शीतल जल भी गरम हो जाता है, उसी प्रकार मन में दुःख होने पर शरीर भी सन्तप्त होने लगता है। इसलिये जैसे अग्नि को शीतल करने के लिये उसमें जल डालकर उसे शान्त किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान से मानसिक दुःख को शान्त करना चाहिये। मन का दुःख मिट जाने पर शरीर का दुःख भी दूर हो जाता है। मन के दुःख का मूल कारण संसार की आसक्ति है। आसक्ति से ही भय होता है। शोक, हर्ष तथा क्लेश इन सबकी प्राप्ति भी आसक्ति के कारण ही होती है। आसक्ति से ही विषयों में भाव और अनुराग होते हैं। विषयों के प्रति भाव को महान् अनर्थकारक माना गया है। आसक्ति धर्म और अर्थ दोनों का नाश कर देती है। राग का ही दूसरा नाम आसक्ति है, इसी से काम इच्छा और तृष्णा की उत्पत्ति होती है। मनुष्य के जीर्ण हो जाने पर भी तृष्णा जीर्ण नहीं होती, इसका त्याग किये बिना किसी को शान्ति नहीं मिल सकती।

मन में अनेकों प्रकार के संस्कार संचित होते हैं, पर उनके अनुसार प्रवृत्ति तभी होती है जब वे उद्‌बुद्ध हों। संस्कारों का उद्‌बोध संग से ही होता है। यह नियम है कि नीच के संग से बुद्धि नीच, मध्यम के संग से मध्यम और उत्तम पुरुषों का संग करने से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है।

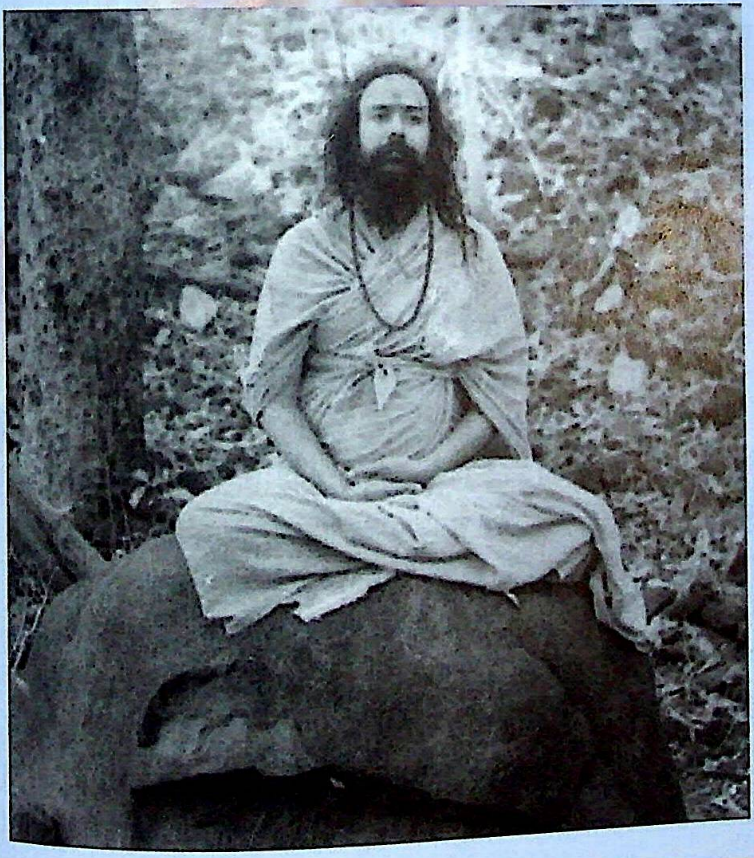
गुण-दोषों के ज्ञान के लिए बुद्धि की शुद्धि अपेक्षित होती है। जिसकी बुद्धि मलिन होती है, वह मलिन वस्तु को उत्तम समझता है। पर उत्तम पुरुषों की बुद्धि शुद्ध होती है, उनका विवेक सदा जाग्रत् होता है, उनकी शिक्षा आचरणीय और चरित्र अनुकरणीय होते हैं। दुःसंग के त्याग और सत्संग के द्वारा जब बुद्धि के दोष दूर होते हैं तब पता लगता है कि सच्चा सुख क्या है और किन उपायों से उसकी प्राप्ति होती है।

वस्तुतः सच्चा सुख भगवान् का ही स्वरूप है और उसकी प्राप्ति का साधन मन की निर्मलता है। मन स्वभावतः निर्मल है। राग-द्वेष, शोक-मोह, काम-तृष्णा से उसमें मलिनता आ जाती है। मन की बहिर्मुखता ही उसकी मलिनता है। भगवत्कथाश्रवण, भगवद्भक्ति, शमदमादि साधन और आध्यात्मिक साधनों से मन की बहिर्मुखता दूर होती है। जब मन अन्तर्मुख हो जाता है तो

उसको अपने ही भीतर सुख का खाजाना मिल जाता है । तब तो वह कृतकृत्य होकर सभी इच्छाओं का त्याग कर देता है । इसी को मुक्ति कहते हैं ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ।।

अर्थात् बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है । विषयासक्त मन बन्धन का और निर्विषय मन मोक्ष का कारण होता है । यही परमार्थ पथ है, जिसको समझे बिना मनुष्य के पुरुषार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती। इसका ज्ञान परमार्थ-पथ में परम प्रवीण सत्पुरुषों के सत्संग से ही होता है । सत्संग से ही विचार का उदय होता है और विचार से मोह की निवृत्ति होती है । हमें इसी मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिये।



आत्मा से ही आत्मा का उद्धार

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है – "मनुष्य को चाहिये कि आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार करे, आत्मा का विनाश न होने दे, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जिसने आत्मा के द्वारा आत्मा को जीत लिया, उसकी आत्मा उसका मित्र और इसके विपरीत आत्मजय के बिना ही आत्मा, आत्मा का शत्रु बन जाता है।' यहाँ आत्मा का अर्थ अन्तःकरण है। मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार अन्तःकरण के ही चार भेद हैं। अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के समष्टि सात्विक अंश से निर्मित होने के कारण अन्तःकरण साक्षी-चैतन्य का आभास (प्रतिबिम्ब) ग्रहण कर लेता है। यही चैतन्य का आभास जीव कहलाता है। जब किसी सरोवर में रात्रि के समय चन्द्रमा का प्रातिबिम्ब पड़ता है तब यदि सरोवर का जल निर्मल और निस्तरंग रहा तो चन्द्रमा का आभास निर्मल निश्चल तथा जल के मलिन और चंचल होने पर मलिन और चंचल प्रतीत होता है। चन्द्रमा के आभास के मलिन, चंचल प्रतीत होने पर आकाश में स्थित चन्द्रमा में भी चंचलता और मलिनता का आरोप होने लगता है। इसलिये अन्तःकरण का स्वच्छ और शान्त होना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। यह तभी सम्भव होता है जब अन्तःकरण इन्द्रियों का अनुसरण न करके उनको अपने नियन्त्रण में रखता है।

इस विषय को कठोपनिषद् में रथ का रूपक देकर समझाया गया है। वहाँ कहा गया है कि आत्मा (जीव) रथी है, शरीर रथ है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पाँच विषय गन्तव्य हैं, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है। यदि बुद्धि रूपी सारथी अप्रमत्त होकर सावधानी से मन की लगाम को थाम कर रखता है तब तो ठीक है अन्यथा थोड़ी सी असावधानी से इन्द्रिय रूपी घोड़े रथ-रथी दोनों को पतन के गर्त में डाल देते हैं। विषयों के पार विष्णु का परम पद है। जो इनके प्रलोभन में नहीं पड़ता, वह उसको प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। आत्मनियन्त्रण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य की उन्नति में सहायक है। व्यावहारिक जीवन में भी वही सफल होता है जो विचार पूर्वक निर्णय ग्रहण करता है। विचार करके उचित समय पर उचित शब्दों में

बोलता है तथा विचार-पूर्वक कार्य करता है।

'सहसा विदधीत न क्रियाम्' एकाएक कोई कार्य न करे। मानस में भी आता है- **'सहसा करि पछिताहिं विमूढ़ा'**। पर जीवन में कभी-कभी ऐसे भी अवसर आते हैं जब मनुष्य को तत्काल निर्णय लेकर कार्य करना पड़ता है, विलम्ब से हानि होती है। ऐसे अवसरों पर भी धैर्य और सूझ-बूझ आवश्यक है जो असन्तुलित मन में नहीं होते। धैर्य का ही सूक्ष्मरूप धृति है। जिस धृति से शान्त, एकाग्र अन्तःकरण के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएं धारित होती हैं, वह धृति सात्विक है और जिसके कारण स्वप्न, भय, शोक, विषाद और मद को बुद्धि नहीं छोड़ पाती, उस धृति को तामसी माना जाता है।

मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण जीवन की किसी एक घटना या कार्य से नहीं वरन् चिरकाल तक की जाने वाली साधना से होता है। जैसे किसी नदी या नहर की जलधारा को मोड़ने के लिये कुशल अभियन्ता बहुत पहले से ही धक्के बनाते हैं। गाड़ियों के सुव्यवस्थित संचार के लिये सड़कों में मोड़ दिये जाते हैं, उसी प्रकार अपने चरमलक्ष्य की ओर साधना पथ पर चलने वालों को पहले से स्वयं को तैयार करना पड़ता है। यदि कोई साधक ध्यान में अपने मन को समाहित पाता है तो यह नहीं समझना चाहिये कि यह स्थिति आकस्मिक है। वस्तुतः ऐसी स्थिति समग्र जीवन की साधना का परिणाम होती है।

सामूहिक सामाजिक जीवन में यदि कोई अच्छी स्थिति आती है तो वह उस देश और समाज की धार्मिकता, संस्कृति और सदाचार के पालन की लम्बी सतत-साधना का ही फल है। किसी एक के प्रयास की आकस्मिक परिणति नहीं है। राम के राज्य की सुव्यवस्था जादू से नहीं, धर्मनिष्ठा से निर्मित हुई थी। आत्मनियन्त्रण के अभाव में ही मनुष्य राग-द्वेष, ईर्ष्या, मद और मोह के वश में होकर भटक जाता है।

इन्द्रियों के भोगों से प्राणी को जो सुख मिलता है, उससे कई गुना उनके संयम से प्राप्त होता है। जिसको आध्यात्मिक सुख-स्वाद मिल जाता है, वह विषय सुख की मृगतृष्णा में नहीं भटकता। **'नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति'**। आज का व्यक्ति और समाज की सभी समस्याओं का हल आध्यात्मिक साधना के द्वारा स्वयं को अन्तर्मुख बनाने में ही निहित है। हम

प्रवाह में निष्क्रिय हो कर बहते रहें, यह जीवन का लक्षण नहीं है । जीवन का लक्ष्य है, तैर कर प्रवाह को पार करना ।

चौबीस घण्टों में कुछ पलों के लिए ही सही, मन को निर्विकार और शान्त बना दिया जाय । यह तभी सम्भव है जब हम नियमित रूप से भगवान् का स्मरण, चिन्तन और ध्यान करें अथवा आत्मस्वरूप में मन को स्थिर करें ।

यही हमारी स्वस्थता और सफलता है । यही परमयोग है । दान, स्वधर्म पालन, नियम, दम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ कर्म इन सब का फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान् में लग जाए ।

'परो हि योगो मनसः समाधिः'

मन का समाहित हो जाना ही परम योग है । व्यक्ति और समाज का उत्थान इसी से सम्भव है, और यह उसे स्वयं ही करना है ।



निर्मल मन जन सो मोहिं पावा

सभी प्राणी सुख की इच्छा से विविध कर्मों में प्रवृत्त होते हैं पर उनको सुख की प्राप्ति नहीं होती। कारण यह है कि वे सुख के स्वरूप पर विचार नहीं करते। सामान्य जन भौतिक पदार्थ, प्राणी या चित्त की अवस्था विशेष को ही सुख समझकर उनको सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करते हैं । पर जब उनको पाकर भी उन्हें स्थिर सुख नहीं मिलता तो पुनः उसी प्रकार का प्रयत्न करते हुए विफल मनोरथ हो जाते हैं । विचार करके देखा जाय तो पता लगेगा कि सुख साध्य नहीं किन्तु सिद्ध है । प्रयत्न से वह वस्तु प्राप्त होती है जो साध्य हो । साध्य उसको कहते हैं जो उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य होता है । उत्पाद्य उसको कहते हैं जो कालान्तर में प्राप्त होता है जैसे पुण्य कर्म करने से परलोक में स्वर्ग और इस लोक में पशु, पुत्र धन आदि की प्राप्ति होती है । देशान्तर में जिसकी प्राप्ति होती है, उसको आप्य कहते हैं । जैसे हम चलकर जिस किसी गन्तव्य तक पहुँचते हैं, वह हमारे लिये आप्य है । जो किसी पदार्थ का परिणाम होता है, वह विकार्य कहलाता है, जैसे दूध का परिणाम दही होता है । संस्कार्य उसको कहते हैं, जो संस्कार से परिष्कृत किया जाता है, जैसे हीरे को खरीदकर उसमें चमक लायी जाती है या दर्पण के मलिन हो जाने पर उसको पोंछ कर स्वच्छ किया जाता है ।

जो वर्तमान में नहीं है वही उत्पाद्य, आप्य, विकार्य और संस्कार्य होकर साध्य बनता है । सुख को इसी प्रकार का समझकर जन सामान्य उसको सम्पादित करने के लिए विविध प्रकार के उपायों में लगे रहते हैं किन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है । सुख अपना स्वरूप ही है और सब प्रकार की चेष्टाओं की उपरति उसका शरीर है ।

जब पाँचों इन्द्रियाँ मन के सहित निश्चेष्ट हो जाती हैं तब उस अवस्था में सहज-सुख की अभिव्यक्ति होती है । सुख उत्पन्न नहीं होता केवल उसकी अभिव्यक्ति होती है । प्रयत्न अभिव्यक्ति के लिए किये जाते हैं, उत्पत्ति के लिए नहीं । जितने भी साधन हैं, वे सब अन्तःकरण को निर्मल बनाने में सहायक हैं । क्योंकि स्वच्छ और शान्त अन्तःकरण में ही परमानन्द-स्वरूप आत्मा की

छाया पड़ती है। जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र समान रूप से पड़ने पर भी उनकी जितनी चमक जल या काँच में दिखलाई पड़ती है, उतनी और कहीं दिखलाई नहीं पड़ती। उसी प्रकार आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा भी सर्वव्यापक होने पर भी स्वच्छ अन्तःकरण में ही सुस्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

सम्पूर्ण भूतभौतिक जगत् की उत्पत्ति अविद्योपाधिक ब्रह्म से होती है। निरुपाधिक ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है। अविद्या शबल होने पर ही वह 'सत्' शब्द का वाच्य बनता है। सृष्टि के प्रारम्भ में केवल 'सत्' ही था। **'सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्'** अर्थात् यह नाम रूप क्रियात्मक जगत् सृष्टि के पूर्व सत् ही था। सत् की उपाधि अविद्या को ही अज्ञान, माया, प्रकृति आदि शब्दों से जाना जाता है। प्रकृति आदि शब्दों से जाना जाता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है। तीन गुण हैं-- सत्व, रज और तम। प्रकृति के तीन गुण अन्तःकरण में भी रहते हैं तथा क्रमशः घटते बढ़ते हैं।

जब तमोगुण बढ़ता है तब निद्रा, आलस्य, प्रमाद की अधिकता हो जाती है। रजोगुण के बढ़ने पर काम, क्रोध, लोभ तथा विविध कर्मों में प्रवृत्ति होती है और जब सत्त्वगुण बढ़ता है तब इन्द्रियों में सचेतनता और अन्तःकरण में ज्ञान एवं सुख की वृद्धि होती है।

जैसे चंचल और मलिन सरोवर में पड़नेवाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब भी चंचल और मलिन दिखलाई पड़ता है, किन्तु सरोवर के स्वच्छ और निस्तरङ्ग होने पर उसका स्वाभाविक स्वच्छ और शान्त रूप सरोवर के जल में प्रतिबिम्बित होकर प्रतीत होता है। उसी प्रकार अन्तःकरण की स्वच्छता और निश्चलता आत्म-तत्त्व के स्फुरण में सहायक होती है। इच्छित और अनुकूल विषय के प्राप्त होने पर मन क्षणभर के लिए शान्त और स्वच्छ हो जाता है। ऐसा होने पर जो सुखानुभूति होती है, नासमझी से लोग उसे विषयजन्य समझ बैठते हैं। वस्तुतः, वह जन्य नहीं है, केवल परमानन्द स्वरूप आत्मा की एक क्षणिक अभिव्यक्ति है। उस क्षणिक सुख में विषय जन्यता की भ्रान्ति से सुख के इच्छुकों की विषयों के प्रति आसक्ति और इन्द्रियों की परतन्त्रता बढ़ती है। इस कारण विचारवान् पुरुष इसको त्याज्य समझ कर इससे विरक्त हो जाते हैं।

जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर देह गेह में अहन्ता ममता

कर लेता है, तब इसको अपनी अपूर्णता से ग्लानि होती है । इसी को 'अरति' कहते हैं । इसी अरति के कारण यह किसी प्राणी या पदार्थ की कामना करता है। मन में कामना का उदय होते ही जब तक वह पूर्ण नहीं हो जाती तब तक कांटे जैसी चुभती रहती है । उस चुभन को मिटाने के लिए वह काम्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए आतुर होकर प्रयत्न करता है, और जब पूर्व जन्म के कर्मवशात् उसको वांछित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब उसका मन अन्य इच्छा के अभाव में शान्त और प्राप्तिजन्य हर्ष से क्षणभर के लिए सत्त्वगुण के कारण स्वच्छ हो जाता है पर जैसे ही दूसरी कामना का उदय होता है, स्थिति पूर्ववत् हो जाती है। अध्यात्म वेत्ताओं का सिद्धान्त है कि अन्तःकरण को निर्मल तथा निश्चल बनाने के लिये कामना करके उसकी पूर्ति के प्रयास की अपेक्षा कामनाओं की निवृत्ति के लिये प्रयास करना श्रेष्ठ है ।

अन्त में तो कामना की पूर्ति के पश्चात् कामना की निवृत्ति ही होती है । कामनाओं की निवृत्ति के लिए आत्मा की परिपूर्णता के साक्षात्कार की आवश्यकता है । ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए बहिर्मुखता का त्याग आवश्यक होता है । प्रवृत्ति से जितना सुख अनुभूत होता है, उससे कई गुना सुख निवृत्ति से अनुभूत होता है। इसीलिए कहा गया है –

न चेन्द्रस्य सुखं किञ्चित् न सुखं चक्रवर्तिनः ।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ।।

अर्थात् न तो इन्द्र को किञ्चित् सुख है और न चक्रवर्ती सम्राट् को ही सुख है । सुख है तो केवल एकान्तजीवी विरक्त मुनि को है ।

निवृत्ति से अनुभूत होने वाला सुख भी प्रवृत्ति होने पर नष्ट हो सकता है पर आत्मसाक्षात्कार से जिसने अपने स्वरूपभूत सहज सुख का अनुभव कर लिया, उसका सुख अखण्ड और अनन्त होता है । पर इसके लिये प्रबल वैराग्य की अपेक्षा होती है । शान्त दान्त उपरत और तितिक्षु ही इस पथ का पथिक होता है।

इससे सरल भक्तिमार्ग है । भक्ति में अपने इष्टदेवता के प्रति परम प्रेम ही उन सभी अवस्थाओं का अनुभव करा देता है, जिनके लिए योगी और ज्ञानी प्रयत्नशील रहते हैं । प्रेम की व्याख्या करते हुए महर्षि शाण्डिल्य ने कहा है–

'**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानं अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत्**' अर्थात् जो भगवत् सम्बन्धी प्रेम गुणों और कामनाओं से रहित होता है, और जो प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता है, ऐसे प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है, गूंगे के स्वाद के समान । प्रेम से भाव समाधि लग जाती है, जिसमें अपने इष्ट देवता के रूप में उसी परमतत्त्व का अनुभव होता है, जो ज्ञानियों का ज्ञेय ब्रह्म है।

निराकार, निर्विकार चित्त की ब्रह्माकारता ज्ञान है और द्रवित अन्तःकरण की भगवदाकारता भक्ति है । ज्ञानियों के ज्ञेय और भक्तों के भजनीय में कोई अन्तर नहीं है । दोनों में चित्त की शुद्धि अपेक्षित है । शरीर का मल जल से दूर होता है, पर चित्त का मल धर्म का पालन करने से ही दूर हो सकता है । धर्म, सामान्य और विशेष भेद से दो प्रकार का होता है । सामान्य धर्म का पालन मानव मात्र कर सकता है । श्रीमद्भागवत में सामान्य धर्म के तीस लक्षण बतलाये गये हैं, सत्य, दया, तप, पवित्रता, तितिक्षा, उचित-अनुचित का विचार, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी महात्माओं की सेवा, ग्राम्य चेष्टाओं से शनैः शनैः उपरति, मनुष्यों की विपरीत चेष्टाओं की निष्फलता का विचार, मौन, आत्मविचार, सब प्राणियों को अन्न आदि का यथायोग्य वितरण, सबको अपने इष्टदेव का रूप समझना, परमाराध्य परमेश्वर के चरित्रों, गुणों और नाम का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, प्रणाम, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये तीस धर्म सामान्य धर्म हैं ।

मनु के अनुसार-- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, मनोनिग्रह, ज्ञान, विज्ञान, सत्य, अक्रोध ये दस धर्म सब के लिए हैं । सामान्य धर्म विशेष धर्म का आधार है । विशेष धर्म वर्ण और आश्रम के अनुसार अपने अपने कर्तव्य के पालन को कहा जाता है । यदि निष्काम भाव से इनका पालन किया जाये तो शीघ्र ही चित्त की शुद्धि हो जाती है ।

शास्त्रों के विधान के अनुसार सकाम कर्मों से भी चित्त की शुद्धि होती है । क्योंकि शास्त्रों को मानने वाला निषिद्ध (पाप जनक) कर्मों का त्याग कर देता है, पर निष्काम कर्मों से तत्काल शुद्धि होती है ।

हमारा प्रयत्न मन को निर्मल बनाकर उसे भगवद् -भक्ति और ब्रह्म

साक्षात्कार के योग्य बनाने के लिए होना चाहिये। पवित्र मन में ही भगवत् स्वरूप की स्फूर्ति होती है।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

निर्मल मन से ही पवित्र भावों और विचारों का उदय होता है। उसी सरोवर की तरंगे निर्मल होती हैं, जो स्वच्छ होता है। सहज सुख से ही मन की अशान्ति और चंचलता सदा के लिए दूर होती है।

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा, परस कि होइ विहीन समीरा।

सुख की अभिलाषा के प्रशमन का यही एक मात्र अचूक उपाय है।

हमें सुख के लिए भौतिक साधनों के संचय-सम्पादन से विरत होकर आध्यात्मिक साधनों का आश्रय लेना चाहिये। आध्यात्मिक-साधना की अनेक सीढ़ियां हैं, इसलिये प्रत्येक स्तर का मनुष्य इनका अनुष्ठान कर सकता है। आइये, हम विचार करें और प्रयत्नों को सही दिशा प्रदान करें।



आत्मकृपा सर्वोपरि

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा उद्धव को समझाते हुये कहा- 'विश्वस्रष्टा परमेश्वर ने विविध प्रकार के पुरों (शरीरों) की रचना की। वृक्ष, सरीसृप, मृग, खग, मत्स्य का निर्माण किया पर उनको किसी से भी सन्तोष नहीं हुआ । जब सबके अन्त में उन्होंने मनुष्य बनाया और देखा कि मनुष्य के भीतर ऐसी बुद्धि है कि जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है तो उन्हें आनन्द का अनुभव हुआ।' ब्रह्म-साक्षात्कार की क्षमता के कारण ही मनुष्य परमेश्वर की सर्वोत्तम कृति माना जाता है क्योंकि अन्य शरीरों में इस क्षमता का सर्वथा अभाव है ।

अध्यात्म-शास्त्रों में बताया गया है कि ब्रह्मलोक में छाया और धूप के समान माया से विलक्षण ब्रह्म का अनुभव होता है । उससे नीचे के लोकों में चंचल और मलिन सरोवर में दिखलाई पड़ने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान ब्रह्मदर्शन होता है । किन्तु दर्पण में मुख देखने के समान मनुष्य लोक में ब्रह्मदर्शन होता है । इस दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य शरीर का अन्य सभी शरीरों से अधिक महत्व है ।

यह भी माना जाता है कि चौरासी लाख योनियों में भटकते-भटकते यह जीवन जब परिश्रान्त हो जाता है तब अकारणकरुण-करुणावरुणालय सर्वेश्वर सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर इस जीव की दीन-दशा पर दयार्द्र होकर इसको मानव शरीर देते हैं । इसलिये इसके द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करना इसका परम कर्तव्य होने के साथ-साथ भगवान् के प्रति कृतज्ञता का द्योतक है । जो काम पशु-पक्षियों के शरीर से नहीं हो सकता, मनुष्य शरीर से वही काम करना चाहिये। खाना-पीना, डरना-मरना और सन्तान उत्पन्न करना तो दूसरे शरीरों से भी हो सकता है । इनके लिये मनुष्य देह का उपयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है ।

ब्रह्म साक्षात्कार केवल कर्त्तव्य ही नहीं, प्राणी का पुरुषार्थ है । पुरुषार्थ उसे कहते हैं, जिसको अपनी सभी चेष्टाओं के द्वारा प्राप्त करने का पुरुष प्रयत्न करता है । समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति

प्राणी का परमपुरुषार्थ है । पर जिस उपाय से वह उसे प्राप्त करना चाहता है, वह वास्तविक उपाय नहीं है ।

अनुकूल विषयों में राग और प्रतिकूल विषयों में द्वेष से प्रेरित होकर ही प्राणी दुःखों के परिहार से सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं किन्तु इसका परिणाम विपरीत ही होता है । परिणाम में दुःखद होने, शारीरिक-मानसिक-भौतिक तापों से संतप्त होने और प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के अन्तःकरण में परस्पर अन्तर्विरोध के कारण विवेकी पुरुष के लिये विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले भोग दुःखरूप ही हैं ।

प्रकृति के गुणों के ह्रास-विकास से मन की रुचि परिवर्तित होती रहती है, यही कारण है जो प्राणी या पदार्थ कभी अत्यधिक प्रिय प्रतीत होता है, कालान्तर में वही अप्रिय प्रतीत होने लगता है ।

प्रेम और आनन्द एक साथ देखे जाते हैं । जिसमें प्रेम होता है, उसमें आनन्द की अनुभूति होती है। जिसमें हमारा प्रेम होता है हम चाहते हैं, वह सदा ही बना रहे, उसका अस्तित्व कभी न मिटे ।

प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व की रक्षा करता है, वह कभी अपने आप से द्वेष नहीं करता । इससे सिद्ध होता है कि सबसे प्रिय अपनी आत्मा ही है, वह सब प्राणियों का परम प्रेमास्पद है और इसी कारण परमानन्दस्वरूप है । सर्वभूतान्तरात्मा और सर्वव्यापी होने के कारण यही परमात्मा कहलाता है ।

देश, काल और वस्तुरूप समस्त जगत् का साक्षी होने के कारण वह देश-कृत, काल-कृत और वस्तु-कृत परिच्छेद से रहित होने के कारण बृहत् अर्थात् ब्रह्म के रूप में वर्णित होता है । ब्रह्मतत्त्व के अज्ञान से ही आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की भ्रान्ति है । कर्तृत्व-भोक्तृत्व का आत्मा में आरोप होने से ही कर्म होते हैं । कर्म ही जन्म के कारण बनते हैं । जन्म ही जन्म-मरण, शोक-मोह का कारण है । ब्रह्म का बोध अज्ञान के कार्य का (जन्म-मरण का) निवर्तक होता है। इसी से समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है ।

ब्रह्मानुभूति के लिये ब्रह्म जिज्ञासा बहुत आवश्यक है । उत्सुकता और जिज्ञासा में अन्तर है । उत्सुकता पूरी न भी हो तो कुछ नहीं होता पर जिज्ञासा का उदय होने पर जब तक उसकी शान्ति नहीं हो जाती, जिज्ञासु व्याकुल रहता

है । जैसे किसी के केशों में आग लग जाने पर बिना आग बुझाये उसको शान्ति नहीं मिलती, वैसी ही दशा जिज्ञासु की होती है ।

श्रुति कहती है – इस परमात्मा को यज्ञ, दान और तप से जानना चाहिये । इसका तात्पर्य है– निष्काम भाव से यज्ञ, दान और तप करने पर मन शुद्ध होता है और उसके होने पर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है । जिज्ञासु ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर आध्यात्मिक शास्त्रों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है।

आत्म – कल्याण के लिये चार कृपाओं की आवश्यकता पड़ती है-- ईश्वर-कृपा, शास्त्र-कृपा, गुरु-कृपा और आत्म-कृपा । आत्म-कृपा के बिना और सब कृपा अकिञ्चित हो जाती हैं । इसलिये हमें अपने ऊपर कृपा करनी चाहिये ।

जीव अनादिकाल से **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्'** के चक्र में पड़ा है । ईश्वर की कृपा हुई तब मानव शरीर मिला । शास्त्रों ने आध्यात्मिक ज्ञान दे दिया । गुरु ने रहस्य समझाया । अब हमें अपने ऊपर कृपा करनी चाहिये ।

मानव शरीर को सार्थक करने के लिये बद्धपरिकर होकर भगवान् के चरणों में भक्ति रखते हुये गुरु और आत्मा को भगवान् से अभिन्न समझते हुए साधना के पथ पर समस्त विघ्न बाधाओं को पार करते हुए अपने चरम लक्ष्य को सदा सम्मुख रखते हुए परमार्थ पथ पर निरन्तर बढ़ते रहने का प्रयत्न करना चाहिये।



स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखें

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है– 'आत्मा के द्वारा आत्मा का उद्धार करें, आत्मा का विनाश न होने दें। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।' जिसने प्रयत्न-पूर्वक मन, बुद्ध और इन्द्रियों को वश में कर लिया, उसकी आत्मा उसका मित्र है और जिसने इन पर नियन्त्रण नहीं किया उसकी आत्मा उसका शत्रु है।

आध्यात्मशास्त्रों में ईश्वर-सृष्टि और जीव-सृष्टि भेद से दो सृष्टि बताई गई हैं। उनमें जीव के सुख-दुःख का कारण उसकी अपनी दृष्टि है।

इस विषय में एक दृष्टान्त है– किसी एक ग्राम से दो व्यक्ति व्यापार करके धनोपार्जन करने निकले। दोनों ने परिश्रम करके व्यापार किया परन्तु एक व्यक्ति बीच में ही रुग्ण होकर मर गया और दूसरे ने धनोपार्जन में सफलता प्राप्त की, स्वस्थ भी रहा। उसने किसी सन्देशवाहक से अपने घर में अपनी कुशलता और शीघ्र लौटने का तथा अपने साथी की मृत्यु का समाचार उसके घर में सुनाने के लिए कह दिया। पर वह सन्देशवाहक दुष्ट था, उसने जिस घर का प्राणी सकुशल था, उसके घर में उसकी मृत्यु का और जिसकी मृत्यु हो गई थी, उसके घर में उसके सकुशल लौटने का उल्टा सन्देश सुना दिया। परिणाम यह हुआ, जिस घर का व्यक्ति जीवित था, उस घर में रोना मच गया और जिस घर का प्राणी मर गया था, उसके घर में हर्ष छा गया। इसका कारण यह था – यद्यपि ईश्वर की सृष्टि में वह व्यक्ति जीवित था पर जीव की सृष्टि में मर गया, इसलिये वहाँ रोना मच गया और ईश्वर की सृष्टि में दूसरे के मरने पर भी जीव की सृष्टि में वह जीवति था, इसलिये वहाँ हर्ष छा गया। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यदि आप सुख शान्ति चाहते हैं तो अपनी सृष्टि सुधारिये।

सुखित्व-दुःखित्व ही संसार का स्वरूप माना जाता है। अपने से भिन्न प्राणी और पदार्थ में अहन्ता (मैंपना) और ममता (मेरा पना) सुख-दुःख के कारण बनते हैं। जिनमें अहन्ता और ममता होती है, उनसे राग और उनसे विपरीत में द्वेष होता है। हमारा मन राग और द्वेष से प्रेरित होकर ही यहाँ-वहाँ भटकता है। इन्द्रियाँ भी अनियन्त्रित होने पर मन के भटकने में सहायक होती

हैं। पुरुषार्थ इसी में है कि हमारा मन और इन्द्रियाँ हमारे वश में रहें, उच्छृङ्खल न होने पाएँ।

सुख दो प्रकार का होता है-- एक सुख वह है जो दुःख के साथ जुड़ा रहता है और दूसरा वह है जो दुःख का सदा के लिए विनाश कर देता है।

जो सुख बाह्य साधनों से प्राप्त होता है, वह दुःख का साथी है क्योंकि अनुकूल विषयों के अभाव और इन्द्रिय-मन की प्रतिकूलता में वही दुःख का कारण बन जाता है। पर जो सुख बाह्य साधनों से निरपेक्ष और सहज होता है, वह स्थायी होता है।

भोगों के त्याग से मन पवित्र होता है। वासना रहित मन ही पवित्र माना जाता है। वह अतीन्द्रिय सुख दिव्य होता है, जो सदाचार, स्वधर्मपालन, आत्मसंयम, वैराग्य, भगवद्भक्ति, योगाभ्यास और आत्मज्ञान से प्राप्त होता है। वही सहज और स्थायी होता है।

यह हमारा भ्रम है कि सुख तभी मिलता है जब हमारा मन और इन्द्रियाँ अनुकूल विषयों से जुड़ते हैं। यदि ऐसा ही होता तो सुषुप्ति (गाढ़ी नींद) में हमें सुख का अनुभव क्यों होता है ? सुषुप्ति में तो इन्द्रियाँ मन, बुद्धि सभी अज्ञान में विलीन हो जाते हैं। सुषुप्ति से उठने पर हम कहते हैं "आज मैं ऐसा सुख से सोया कि कुछ पता ही न रहा।" यह जिस सुख का स्मरण है, वह परमात्मा के मिलन का सुख है। श्रुति कहती है- गाढ़-निद्रा में यह जीव सत् परमात्मा में विलीन हो जाता है, यह उसी सहज और साधन रहित सुख का स्मरण है। पर सुषुप्ति में अज्ञान के कारण वह सुख आवृत (ढँका) रहता है। हमें जागरित में उसको अभिव्यक्त करना चाहिये। इसके लिए सर्वप्रथम कर्मयोग का आश्रय लेना पड़ता है। जिस कर्म का उद्देश्य लौकिक सुख न होकर आध्यात्मिक सुख होता है, वह कर्मयोग कहलाता है। कर्म तो सभी करते हैं पर उनका अनुष्ठान यदि परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए होता है तो वही कर्म-योग बन जाता है।

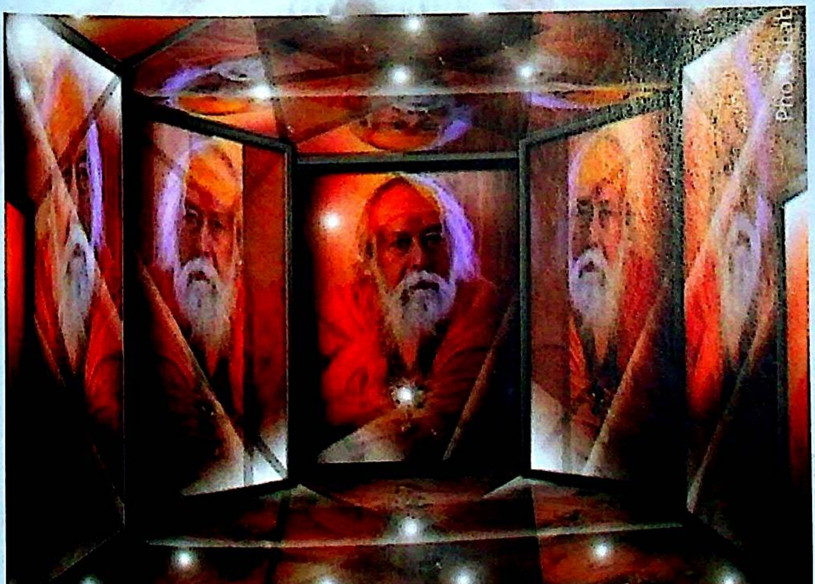
जैसे नदी की धारा को मोड़ने के लिए कुशल विशेषज्ञ दूर से ही उसको बाँधते हैं, उसी प्रकार मन को भी शान्त करने के लिए कर्म के क्षेत्र से ही उसको बाँधना पड़ता है, तभी वह मुड़ पाता है। पर-हित में निरत रहना भी मन को शुद्ध करने का उपाय है।

जो साधक अपने को उपमा बनाकर दूसरों के सुख-दुःख को देखता है अर्थात् सुखसाधनों का सबमें समान वितरण करता है और दूसरों के दुःख में उनकी सहायता के लिए दौड़ पड़ता है, भगवान् श्रीकृष्ण उसको परमयोगी कहते हैं।

भगवान् की भक्ति से कर्मों को जोड़ना मन के समाधान का सर्वोत्तम मार्ग है।

शास्त्रानुसार कर्म और उपासना का समुच्चय होना चाहिये, पर ज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय नहीं है क्योंकि ज्ञानी योगारूढ़ होता है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आध्[illegible]श्य की प्रस्थापना से ही हम स्थिर सुख प्राप्त कर सकते हैं । हम दूसरों का अनुकरण ही न करते रहें, स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखें भी।

सत्संग करें, एकान्त में बैठकर मनन करें और समय को व्यर्थ न जाने दें । व्यवहार को साधना बना लें । इससे दुःख तथा शोक का सदा के लिये अन्त होगा।



ब्रह्म साक्षात्कार से कृतकृत्यता

विश्वस्रष्टा के द्वारा निर्मित चौरासी लाख योनियों में मनुष्य-योनि को उसकी सर्वोत्कृष्ट कृति माना जाता है क्योंकि उसमें परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करने में सक्षम बुद्धि है, जिसको श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण ने **'ब्रह्मावलोकधिषण'** कहा है । यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण सबके हृदय में विद्यमान है तथापि जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र समान रूप से प्रसृत होने पर भी काँच और भित्ति में अधिक चमकती हैं, उसी प्रकार मानव की शुद्ध बुद्धि में परमात्मा की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है । लता-गुल्म से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियों में आत्मा के साथ मन का भी अस्तित्व माना जाता है, फिर भी अविकसित होने के कारण मानवेतर प्राणियों के अन्तःकरणों (मनों) में पर्याप्त स्वच्छता न होने के कारण आत्म-चैतन्य का आभास उतना स्पष्ट नहीं होता, जितना मानव मन में होता है ।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्य होने के कारण जिसको मन और बुद्धि भी कहा जाता है, उस अन्तःकरण में सत्त्व, रज और तम यह तीन गुण होते हैं, जिनका क्रमशः ह्रास-विकास होता रहता है । सत्त्वगुण के विकास से ज्ञान और सुख, रजोगुण से काम-क्रोध और कर्मों में प्रवृत्ति तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं ।

मानव के अन्तःकरण में ब्रह्मदर्शन की योग्यता होने पर भी रजोगुण और तमोगुण की अधिकता से वह प्रतिबद्ध हो जाती है । जब सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है तब रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं तभी उसकी योग्यता सफल हो पाती है । मानव का पुरुषार्थ इसी में है कि वह अपनी ब्रह्मावलोकधिषण को सार्थक करने के लिये प्रयत्न करते हुए इस बात पर ध्यान रखे कि यह योग्यता जिसके कारण वह प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, रजोगुण, तमोगुण से दबकर निरर्थक न होने पाये।

मनुष्य मात्र आनन्द चाहता है । उसके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के सभी प्रयत्न, सारी दौड़-धूप, आनन्द के लिये ही होती है । जहाँ मनुष्य की प्रियता होती है, वहीं उसको आनन्द की अनुभूति होती है । हमें खोजना है कि हमारा

प्रिय क्या है ? क्यों कोई वस्तु पहले अप्रिय होकर प्रिय हो जाती है और क्यों कोई प्रिय होकर अप्रिय हो जाती है । वस्तुस्थिति यह है– जिसमें हमारा सोपाधिक प्रेम है, उसकी प्रियता परिवर्तित होती रहती है पर जिसमें हमारा निरुपाधिक प्रेम है, उसकी प्रियता परिवर्तित नहीं होती, एकरस रहती है । पुत्र, मित्र, धन और स्वजनों तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में हमारा प्रेम सोपाधिक होता है । हम उनसे तभी तक प्रेम करते हैं जब तक वे हमारे सुख में सहायक होते हैं, जब हम देखते हैं कि अब वे हमारे सुख में बाधक हैं, तब अप्रिय हो जाते हैं ।

महर्षि याज्ञवल्क्य का यह कथन– **'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** अर्थात् 'अरे मैत्रेयि! सबके लिये सब प्रिय नहीं होते बल्कि अपने लिये सब प्रिय होते हैं' सर्वथा अकाट्य है ।

अपनी अन्तरात्मा में हमारा प्रेम निरुपाधिक होता है । जैसे पिता पुत्र के मित्र को पुत्र के समान समझता है पर तभी तक जब तक पुत्र का मित्र पुत्र का शत्रु नहीं बन जाता । पुत्र के मित्र के साथ पिता का प्रेम पुत्र के नाते था । यह सोपाधिक प्रेम का उदाहरण है । यहाँ पुत्र का सम्बन्ध ही उसके मित्र के प्रेम की उपाधि है। आत्मा के प्रति प्रेम निरुपाधिक है क्योंकि उसके लिये सब प्रिय होते हैं, वह किसी के लिये प्रिय नहीं होता । आत्मा के लिये सब कुछ छोड़ा जाता है, आत्मा किसी के लिये नहीं छोड़ा जा सकता । इसी कारण यह माना जाता है कि आत्मा समस्त प्राणियों के निरतिशय (सर्वाधिक) प्रेम का आस्पद (विषय) है । जब यह बात समझ में आ जाती है तब हमारी प्रिय की खोज पूरी हो जाती है और तब यह भी स्पष्ट समझ में आ जाता है कि परमप्रेमास्पद होने के कारण आत्मा ही परमानन्दस्वरूप है ।

निषिद्ध कर्मों का त्याग करके जब मनुष्य निष्काम कर्म करता है तब उसके अन्तःकरण की वह मलिनता दूर हो जाती है, जिसके कारण मन में दुर्वासनाओं का उदय होता है । जब निष्काम कर्म के अनुष्ठान के साथ भगवद्भक्ति जुड़ जाती है तब मन की चंचलता भी मिट जाती है, रहे सहे दोष भी दूर हो जाते हैं । ऐसी ही स्थिति में परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने की उत्कट उत्कण्ठा हृदय में जागृत होती है । यह उत्कण्ठा जिसे ब्रह्म-जिज्ञासा भी कहते हैं, साधक को श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ले जाती है । सद्गुरु के मार्ग-निर्देशन में

जिज्ञासु ब्रह्म का अन्वेषण करता है। यहाँ किसी अन्य के अन्वेषण से काम नहीं चलता, स्वयं का अन्वेषण ही अनुभूति तक ले जा सकता है। अन्य तत्त्वदर्शियों के अन्वेषण और तज्जन्य अनुभव से साधक को केवल प्रेरणा और दिशा-निर्देश ही प्राप्त होता है।

परब्रह्म परमात्मा का अन्वेषण प्रारम्भ करने से पूर्व यह जानना आवश्यक होगा कि उसका स्वरूप क्या है? किसी भी वस्तु का स्वरूप जानने के लिए उसका लक्षण जानना अनिवार्य होता है। जो अव्याप्ति (लक्ष्य के एक देश तक ही सीमित रहना) अतिव्याप्ति (अलक्ष्य में लक्षण का चला जाना) और असम्भव (लक्ष्य में लक्षण का न जाना) इन तीनों दोषों से रहित हो, उसे लक्षण कहते हैं।

परब्रह्म परमात्मा के दो प्रकार के लक्षण उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं तटस्थ-लक्षण और स्वरूप-लक्षण। जिससे यह समस्त विश्वप्रपञ्च उत्पन्न होता है, जिससे इसका पालन (रक्षण) होता है और अन्त में जिसमें इसका लय हो जाता है, वह ब्रह्म है, यह तटस्थ लक्षण है। **'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है'** यह स्वरूप लक्षण है। इन लक्षणों को मन में रखकर जब हम देखते हैं तो हमें ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान तो हो जाता है, पर अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। अपने आपसे भिन्न रूप से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान इस कारण नहीं होता क्योंकि वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित होने के कारण इन्द्रियों का विषय नहीं है। हमारा मन भी इन्द्रियों के विषयों को लेकर ही संकल्प विकल्प करता रहता है, इसलिये मन का भी विषय नहीं है।

अपरोक्ष ज्ञान में चारों वेदों के चार महावाक्य ब्रह्म और जीव के अभेद का प्रतिपादन करते हुए हमें अपने ही भीतर खोजने का संकेत देते हुए हमारी सहायता करते हैं। अहम् (मैं) का अर्थ ही जीव है। अब यहाँ से अहम् की खोज प्रारम्भ होती है। यहाँ भी यदि हम अहम् से पृथक् होकर अहम् की खोज करेंगे तो हमारा प्रयास हमें भटका देगा। जैसे कोई डॉक्टर मशीन के द्वारा रोगी के शरीर के भीतर देखकर रोग की खोज कर लेता है, इस प्रकार आत्मा को नहीं खोजा जा सकता क्योंकि वह नेत्रों का विषय नहीं है। मन से भीतर खोजने पर भी कल्पित देश-काल-वस्तु से मिला हुआ कल्पितरूप ही मन की कल्पना में आयेगा।

वास्तव में आत्मा की खोज त्वम् - पदार्थ के शोधन के रूप में की जाती

है। 'अहम् अस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ' इस रूप में हम अपने आपको जानते ही हैं क्योंकि अपना आपा ही तो आत्मा है। अनात्मा के तादात्म्य से वह अशुद्ध सा हो गया है। उस अनात्मा को जिसको इदम् (यह) रूप से जाना जाता है, आत्मा से पृथक् करके देखना है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि यह सब अनात्मा हैं। द्रष्टा के दृश्य के विवेक से सरलतापूर्वक आत्म-तत्त्व का शोधन हो जाता है। रूप दृश्य है, नेत्र दृष्टा है। नेत्र दृश्य है, मन द्रष्टा है। मन दृश्य है, बुद्धि द्रष्टा है। बुद्धि भी दृश्य है, अपना आत्मस्वरूप द्रष्टा है। आत्मा केवल द्रष्टा है, दृश्य नहीं और द्रष्टा भी उसको दृश्य की अपेक्षा से ही कहा जाता है। वस्तुतः वह दृशि स्वरूप है अर्थात् ज्ञेय रहित ज्ञान (ज्ञप्ति) है।

यही आत्मा सत्-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप और देश-काल-वस्तु का द्रष्टा होने के कारण देश-काल-वस्तु के परिच्छेद से शून्य, अनन्त है। ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण समस्त जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इस प्रकार यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि ब्रह्म और आत्मा अभिन्न हैं। देश-काल-वस्तुरूप जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं है। बस केवल ब्रह्म ही है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- '**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' अर्थात् सब कुछ वासुदेव ही है, ऐसी धारणा वाला महात्मा दुर्लभ है। वासुदेव दो शब्दों से मिलकर बना है- वासु (जिसमें सब कुछ बसा है) सर्वाधिष्ठान है और देव अर्थात् स्वप्रकाश है। इसका अर्थ हुआ स्वयंप्रकाश ब्रह्म, वही सब कुछ है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं। जो परमप्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप आत्मा से अभिन्न रूप से परब्रह्म परमात्मा को जान लेता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। उसकी सारी दौड़-धूप मिट जाती है। वह शोकमुक्त हो जाता है। जो बुद्धिमान् पुरुष भौतिक सुखों की मृगतृष्णा को छोड़कर अपने अन्तःकरण को सत्कर्म, सद्धर्म का भगवत्पादपङ्कजसमर्पणबुद्धि से पालन करते हुए शुद्ध करके भगवान् के सगुण साकार श्रीविग्रह, उनके पवित्र नामों, उनकी लीला-कथा और धाम के रूप में अभिव्यक्त सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा का भजन करता है, वह भगवत्कृपा से शीघ्र ही उपर्युक्त मार्ग से अपनी ब्रह्मावलोकधिषण को सार्थक करके धन्य हो जाता है।

आवश्यकता है लक्ष्य की प्राप्ति को सदा दृष्टि में रखते हुए विघ्नों से बचते हुए निरन्तर साधना में निरत रहने की।

हम बढ़ते ही न जायें मुड़कर भी देखें

पुण्यभूमि भारतवर्ष में मानव-जन्म की प्राप्ति देवताओं को भी दुर्लभ है। देवता इस भूमि का गुणगान करते समय यहाँ के मनुष्यों की सराहना करते हुए कहते हैं – 'अहो! इन मनुष्यों ने ऐसा कौन सा पवित्र कर्म किया है, क्या साक्षात् श्रीहरि ही तो इन पर प्रसन्न नहीं हो गये ? जो मुकुन्द की सेवा के योग्य और हमारे लिए स्पृहणीय भारत की पवित्र धरित्री में इनको नर-जन्म मिला है।' यद्यपि स्वर्गादि लोकों में रहने वालों की आयु बहुत लम्बी होती है फिर भी पुण्यों का क्षय होने पर उनको दूसरा जन्म लेना पड़ता है। उससे अच्छा तो थोड़ी आयु वाला भारतभूमि में जन्म है, जिसमें क्षणभर में ही मनस्वी पुरुष सर्वत्याग करके हरि के अभय पद को प्राप्त कर लेता है। जहाँ भगवत्कथा की अमृतमयी सरिता न हो, जहाँ भगवदाश्रित साधुजन न हों और जहाँ यज्ञों के द्वारा भगवान् यज्ञ नारायण का अर्चन न होता हो, ऐसा इन्द्रलोक भी सेवनीय नहीं है।

स्वर्ग के नन्दनवन में कल्पवृक्ष है, कहा जाता है कि उसके नीचे बैठकर जो भी कल्पना या याचना की जाती है, वह पूर्ण होती है। पर वह कल्पना अर्थ और काम से सम्बन्धित होनी चाहिये। धर्म और मोक्ष प्रदान करने का सामर्थ्य उस कल्पवृक्ष में नहीं है। यदि यह सम्भव होता तो वहाँ के निवासियों का पतन न होता। कल्पवृक्ष से यज्ञों का पुण्य मांगकर देवगण पतन से बच जाते। इसके विपरीत दुःखबहुल मर्त्यलोक के निवासियों को ऐसा कल्पवृक्ष प्राप्त है जिससे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों को प्राप्त किया जा सकता है। वह है हमारा '**निगमकल्पतरु**'', जिसको वेद कहते हैं। वेदों में उन सभी उपायों का प्रामाणिक वर्णन है, जिनके अनुष्ठान से हमारे पुरुषार्थों की सिद्धि हो सकती है। हम अपने जीवन में इन चारों का समन्वय कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि धर्म मोक्ष के लिए है, अर्थ के लिए नहीं। अर्थ भी धर्म के लिए है, भोगों के लिए नहीं। जीवन मात्र जीने के लिए नहीं, अपितु तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पाने के लिये है। जिसको तत्त्ववेत्ता अद्वयज्ञान और तत्त्व कहते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्द से कहा जाता है। भगवत्प्राप्ति से जीव को जन्म-मृत्यु से छुटकारा मिलता है। बुढ़ापा,

मृत्यु, भूख-प्यास, शोक-मोह, शारीरिक रोग, मानसिक चिन्ता यह सब जन्म के साथ जुड़े हुए हैं। जब तक प्राणी कर्म करता है, तब तक उसको कर्मों का फल भोगने के लिये जन्म लेना पड़ता है। कर्मों के न करने से उनके फलों से नहीं बचा जा सकता, क्योंकि न करना भी एक प्रकार का कर्म ही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में बतलाया है कि यदि भगवान् की आराधना समझकर स्वधर्म का पालन किया जाय, तो वे बन्धनकारक न होकर चित्त की शुद्धि के जनक हो जाते हैं। गीता के शब्दों में चित्त की शुद्धि ही सिद्धि है। जिसका चित्त शुद्ध हो जाता है, स्वाभाविक रूप से उसको भगवान् के चरणकमलों की भक्ति प्राप्त हो जाती है। जिसका हृदय शुद्ध होता है, उसकी असत् पदार्थों और प्राणियों में प्रीति नहीं हो सकती। इसी कारण श्रद्धा को ही व्यक्ति के मानसिक स्तर का मापदण्ड माना जाता है। गीता में कहा गया है ''**श्रद्धामयोऽयम् पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः**'' अर्थात् यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा वह वैसा ही है।

जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसमें सभी दैवी सद्गुण आ जाते हैं। विवेक, वैराग्य, मन और इन्द्रियों का निग्रह, चित्त की एकाग्रता, उपरति, सुख-दुःख में सम रहना और परमात्मा को प्राप्त करने की उत्कट-उत्कण्ठा जैसे साधन विशुद्ध-बुद्धि में ही आते हैं। ऐसे ही पुरुष सब ओर से अपने मन को हटाकर भगवान् का आश्रय ग्रहण करते हैं और भगवान् के कृपा प्रसाद से उनको तत्त्वज्ञान और उसका फल मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

जो पुरुष परमार्थपथ का पथिक होता है, वह अहंकार, कामक्रोधादि विकारों के वेग रूपी बल परिग्रह का त्याग करके सब प्राणियों के प्रति समान बुद्धि रखता है। उसके द्वारा जो लोकोपकारी कार्य होते हैं, वे स्वार्थरहित होते हैं। भौतिकवादियों की जनसेवा उनके अहंकार के पोषण के लिए होती है। जबकि आध्यात्मिक पुरुषों के लौकिक कार्य उनकी साधना के अङ्ग होते हैं। यदि वे परोपकार करते हैं, तो किसी को उपकृत करने के लिए नहीं, वरन् सबमें अपने इष्टदेव को देखते हुए उनकी सेवा को भगवान् की सेवा समझकर करते हैं। दूसरों के सुख में सुखी होना उनका स्वभाव होता है।

हमारे इस भारत देश का गौरव अपनी इसी आध्यात्मिक सम्पत्ति में है,

जिसको भूलकर हम भारतवासी भौतिकवाद की ओर दौड़ रहे हैं । भौतिकवाद का ही यह परिणाम है कि लोगों के मन में अर्थ-तृष्णा ने घर कर लिया है । भोग को लक्ष्य बनाकर धन के लिये उचित अनुचित का विचार छोड़कर उसके अर्जन में दिन रात लगे हैं । हम दूसरों के सुख में सुखी होने के स्थान पर अपने सुख में सुखी होने का स्वार्थपूर्ण मार्ग पकड़ रहे हैं । यही कारण है कि समाज में परस्पर वैमनस्य और हिंसा बढ़ रही है ।

भौतिक उन्नति के लिये प्रयत्न, परिश्रम करना जीवन के लिये आवश्यक है, पर सद्गुणों को खोकर उनके मूल्य पर नहीं । हम भारतवासियों ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति कर ली थी, पर आध्यात्मिक ह्रास के कारण हमारे देश में महाभारत हो गया । कलह ने व्यक्ति, समाज और देश की न केवल आध्यात्मिक उन्नति वरन् भौतिक उन्नति को भी अवरुद्ध कर दिया ।

आज हम देख रहे हैं कि निरे भौतिकवाद के कारण विश्व तेजी से विनाश की ओर बढ़ता चला जा रहा है । ऐसी अवस्था में हम भारतीयों को अपने स्वरूप में स्थित होकर (स्वस्थ होकर) विश्व को प्रकाश दिखाना चाहिये । यह केवल उपदेश से न होकर आचरण से हो । अपने भीतर सुख को खोजना और सबको अपना आत्मा समझकर सबसे प्रेम करना, यही हमारा दर्शन है, जिसको हमारे वेदों उपनिषदों के आधार पर भगवान् शङ्कराचार्य ने हमें बतलाया है ।

हम बढ़ते ही न जायें, मुड़कर भी देखें । यदि हम अपने वेदों, शास्त्रों और महापुरुषों के बताये मार्ग पर चलेंगे तो विश्व की सर्वोच्च सत्ता हमें शक्ति प्रदान करेगी, क्योंकि वह दुराचार-प्रशमनी और सदाचार-प्रवर्तिका है ।



अपने मन को सुलझाकर दुःखों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापों की आत्यान्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति सभी प्राणियों का परम पुरुषार्थ है। सूक्ष्मता से विचार करने पर पता लगता है कि प्राणियों की सभी प्रकार की चेष्टाओं का उद्देश्य इसी परम पुरुषार्थ को प्राप्त है। आधि-व्याधि, आध्यात्मिक ताप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी तथा ग्रह-प्रेत-पिशाचादि से होने वाली पीड़ा आधिदैविक ताप तथा प्राणियों के परस्पर वैर, विरोध, आघात-प्रत्याघात को आधिभौतिक ताप कहा जाता है।

मानसिक व्यथा को आधि और शारीरिक कष्टों को व्याधि कहते हैं। व्याधि से कहीं अधिक कष्टप्रद आधि होती है। शारीरिक क्लेश प्राणी को तभी कष्ट देते हैं जब उनका अनुभव मन करता है। पर मानसिक पीड़ा, जिसे आधि कहा गया है, सीधे ही कष्ट देती है। चिन्ता, शोक, मोह, राग, रोष आदि मनोविकार जितना दुःख देते हैं, उतना शारीरिक विकारों से दुःख नहीं होता है। विद्वान् पुरुष चिन्ता को चिता से भी बड़ी बतलाते हैं। उनका कथन है कि चिता और चिन्ता दोनों की तुलना की जाय तो चिता से चिन्ता ही बड़ी सिद्ध होती है। क्योंकि चिता तब जलाती है जब प्राणी मर जाता है पर चिन्ता तो जीते जी को जलाती रहती है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं – **'चिन्ता साँपिनि केहि नही खाया'**, अर्थात् ऐसा कौन प्राणी है, जिसे चिन्ता रूपी नागिन ने नहीं डंसा। जैसे भूत, भविष्य वर्तमान के ही रूप में अनुभूत होते हैं और जैसे एक संख्या ही सब संख्याओं का आधार होती है, उसी प्रकार सभी प्रकार के ताप मन में आकर ही कष्ट पहुँचाते हैं।

वेदान्त ग्रन्थों के अनुसार ईश्वर-सृष्टि और जीव-सृष्टि में अन्तर है। ईश्वर के द्वारा एक ही मणि को पाकर कोई हर्षित होता है, कोई न मिलने पर क्रोधित होता है। कोई विरक्त केवल देखता है, उसको मिलने पर न तो हर्ष होता है और न ही न मिलने पर क्रोध ही होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रियत्व, अप्रियत्व और उपेक्ष्यत्व यह तीन आकार जीव के बनाये हैं जबकि ईश्वर-

निर्मित मणि तीनों में एक-सी है । ईश्वर-निर्मित मांसमयी स्त्री में जीव अपनी दृष्टि के अनुसार पत्नी, पुत्रवधु, ननद, देवरपत्नी, माता आदि भेदों की सृष्टि कर लेता है । हम ईश्वर की सृष्टि में परिवर्तन करने में स्वतंत्र न होने पर भी अपनी सृष्टि को परिवर्तित करके दुःखों से मुक्त हो सकते हैं । इसके लिए सर्वप्रथम अपने अन्तःकरण को शुद्ध करना आवश्यक है। यदि शरीर में मैल लग जाय तो जल से शुद्ध हो जाता है, पर मन का मैल धोने के लिए धर्माचरण की आवश्यकता पड़ती है। अधर्म से बचते हुए धर्मपालन करने से मन की शुद्धि शीघ्र हो जाती है । अधार्मिक मनुष्य की बुद्धि, काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर से प्रभावित होकर इन विचारों के अनुकूल सोचने लगती है । इस कारण उसके विचार निष्पक्ष और तात्त्विक नहीं हो पाते । परिणाम स्वरूप आध्यात्मिक साधना में रुचि और प्रगति से ऐसा व्यक्ति वंचित हो जाता है ।

कठोपनिषद् में कहा गया है – 'जो पुरुष दुश्चरित से विरत नहीं है, जिसका मन कामनाओं से मुक्त नहीं और जो समाहित नहीं है, वह केवल बुद्धि के बल पर परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता ।'

धर्म-अधर्म के निर्णय के एकमात्र साधन शास्त्र हैं, इसलिये शास्त्रों में पूर्ण श्रद्धा और आस्था रखते हुए योग्य आचार्य से धर्माधर्म का स्वरूप समझकर धर्मानुकूल जीवन बनाना चाहिये । विधर्म, परधर्म, आभास, उपधर्म और छल, ये पाँच अधर्म की शाखायें हैं । धर्मज्ञ को इन अधर्म की शाखाओं को अधर्म के समान त्याग देना चाहिये । जिससे अपने धर्म में बाधे हो वह विधर्म, अन्य के लिये विहित परधर्म, मनमाना आचरण आभास, पाखण्ड उपधर्म और शास्त्रों के वचनों को तोड़-मरोड़ कर कुछ भी अर्थ निकाल लेना छल है । धर्म का पालन भी निष्काम होकर परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये किया जाय तो उससे शीघ्र ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । शुद्धान्तःकरण से ही मनोविकारों को दूर किया जा सकता है । संकल्प का त्याग करके काम को, काम का त्याग करके क्रोध को, अर्थ में अनर्थ देखकर लोभ को, महापुरुषों की उपासना से दम्भ को, तत्त्वविचार से भय को, आत्मा-अनात्मा के विवेचन से शोक-मोह को तथा इन सबको गुरुभक्ति से जीता जा सकता है । सब साधनों के मूल में श्रद्धा है । योग-शास्त्रों में कहा गया है- '**श्रद्धा जननीव योगिनं पाति**', अर्थात् श्रद्धा

माता के समान योगी का पालन करती है । गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं '**श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः**', अर्थात् श्राद्धावान्, तत्पर और संयतेन्द्रिय पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।

विचार करके देखा जाय तो मन स्वतः अशुद्ध नहीं है, उसमें अशुद्धि उसके उस विषय के कारण आती है, जिसका वह चिन्तन करता है । जिसका हम चिन्तन, ध्यान करते हैं यदि वह पवित्र है तो मन पवित्र है और यदि अपवित्र है तो मन भी अपवित्र हो जाता है । जो राग, भय और क्रोध से रहित महापुरुष हैं, उनका तथा समस्त हेय गुणों से रहित अचिन्त्य-अनन्त-कल्याणगुणों के एकमात्र आश्रय भगवान् का ध्यान या उनके चरणकमलों की अनन्य भक्ति मनुष्य के मन को सर्वथा निर्मल बना देती है । भगवत्तत्त्व विज्ञान के द्वारा देहाभिमान गलित हो जाने पर ज्ञानी का मन जहाँ भी जाता है, उसकी वहीं समाधि हो जाती है, क्योंकि उसके लिए ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाता । ऐसे साधकों का मन सहज सन्तोष का अनुभव करने लगता है । सदा सन्तुष्ट मन वाले के लिए सभी दिशायें सुखमय हो जाती हैं । जिस प्रकार पैरों में पदत्राण पहनकर चलने वालों को काँटे-कंकड़ द्वारा कोई कष्ट नहीं होता ।

परमात्मा की प्राप्ति के तीन मुख्य साधन हैं - सगुण, निर्गुण ब्रह्म में से किसी एक का ध्यान, त्यागपूर्वक तत्त्व-विचार तथा परमात्मा के चरणों में समर्पण बुद्धि से कर्मयोग । अपने अधिकार के अनुसार इनमें से किसी एक साधन को अपनाकर जीते जी मोक्ष के सुख का अनुभव किया जा सकता है । गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी अपने कर्तव्य-पालन को ईश्वर की आराधना बनाकर मनुष्य इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है ।

श्रद्धा ही धन है, श्रद्धापूर्वक सतत साधन में निरत रहने वाला व्यक्ति अपने मन को सुलझा लेता है । मन के सुलझ जाने पर सब कुछ सुलझ जाता है ।

नाव पानी में रहे, पर पानी उसमें न आने पाये। इसी प्रकार हम संसार में रहें, पर संसार हमारे भीतर न आने पाये

यह विश्व अकारणकरुण-करुणावरुणालय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा की रचना है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारागणों का नियमित रूप से अपनी-अपनी कक्षाओं पर नियमित व्यवस्थित भ्रमण, विविध प्रकार के प्राणी-पदार्थों की उपयोगिता और सार्थकता को देखकर यह बात सहज ही समझ में आ जाती है। कुछ लोग इस जगत् को जड़ प्रकृति का निरुद्देश्य परिणाम कहते हैं, पर उनका मत बुद्धिमानों को सन्तुष्ट नहीं कर पाता। जैसे कोई इंजीनियर किसी मशीन का निर्माण करते समय उसमें जितने भी कल पुर्जे लगाता है, उन सबकी सार्थकता होती है, उसी प्रकार इस विश्व का कोई भी प्राणी-पदार्थ निरर्थक नहीं है। हम अपने ही शरीर को देखें, इसका कोई भी अंग व्यर्थ नहीं मिलता, सबका उपयोग है। इसलिये कहना होगा कि यह किसी वैज्ञानिक की सुविचारित कृति है। उसी प्रकार उस वैज्ञानिक के मस्तिष्क को देखकर, उसके भी किसी विशिष्ट वैज्ञानिक का अनुमान कर सकते हैं। स्पष्ट है कि वैज्ञानिक के मस्तिष्क का निर्माता कोई मनुष्य या जड़ प्रकृति नहीं वरन् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही हो सकता है।

हमारे शास्त्रों में इस विषय पर भी विचार किया गया है कि भगवान् के द्वारा इस संसार और शरीरों की रचना का उद्देश्य क्या है। संसार के दुःखों को देखकर कुछ जिज्ञासु प्रश्न करते हैं कि भगवान् ने इस जगत् की रचना क्यों की ? नहीं करते तो अच्छा था। पर इसका समाधान श्रीमद्भागवत के इस वचन से होता है।

बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ।। (भागवत १०/८७/२)

अर्थात् भगवान् ने जीवों को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को सुलभ करने के लिए शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि की रचना की है। इसके निर्माण के मूल

में उनकी जीवों के प्रति करुणा है । प्रलयकाल में अज्ञान की निद्रा में सोते हुए जीवों को जगाकर उनको अपनी प्राप्ति सुलभ कराने के उद्देश्य से ही उन्होंने अपने सत्संकल्प से इनका निर्माण किया है ।

जैसे किसी वात्सल्यमयी माता का लाडला बेटा भूखा सो रहा हो और माता के पास मधुर मिष्ठान्न आ गया हो तो वह उसको खिलाने के लिये उसे निद्रा से जगाकर प्यार से मधुर मिष्ठान्न खिलाकर संतोष का अनुभव करती है, उसी प्रकार भगवान् भी जीवों को अपनी प्राप्ति सुलभ कराने के उद्देश्य से संसार की रचना करते हैं ।

भवसागर पार करने के लिये मनुष्य को देहरूपी जहाज प्रदान करके अपनी कृपा के अनुकूल पवन ने गुरुरूपी कर्णधार के द्वारा संचालित मानव शरीर के जहाज को मोक्षतीर तक पहुँचाने में सहायता करते हैं ।

मानव शरीर भगवान् की सर्वोत्तम कृति है । भगवान् ने सृष्टि के प्रारम्भ में वृक्ष, सरीसृप, मृग, खग, दंश, मत्स्य जैसे अनेक सुन्दर-सुन्दर और विचित्र शरीरों की रचना की, पर उनको सन्तोष नहीं हुआ । जब उन्होंने मनुष्य शरीर को बनाया, ऐसे मनुष्य शरीर को, जिसमें ब्रह्म-साक्षात्कार करने में समर्थ बुद्धि थी, उन्हें आनन्द हुआ ।

हमें और आपको ऐसा दुर्लभ देह सहज में प्राप्त हो गया है । हमारी बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इसकी वास्तविक क्षमता का उपयोग कर लें, परमात्मा के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करें । परमात्मा सभी प्राणियों का परम प्रेमास्पद है, सबकी अपनी अन्तरात्मा है, सर्वव्यापक होने के कारण सर्वत्र सुलभ है ।

यदि जीव सावधान होकर श्रद्धा, भक्ति और विचार के द्वारा प्रयत्न करे तो अपने इसी जन्म में जीवन के इस चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है । आवश्यकता है मन की बहिर्मुखता को दूर करके अन्तर्मुखता लाने की, मन के प्रवाह को अनुकूल दिशा की ओर मोड़ने की । हमारा मन नदी और नहर के समान है, नहर या नदी के प्रवाह को अभीष्ट दिशा में ले जाने के लिये जैसे दूर से ही प्रयत्न किये जाते हैं , उसी प्रकार मन को अभीष्ट दिशा में ले जाने के लिए, मन को अन्तर्मुख बनाने के लिए दूर से प्रयत्न करना चाहिये । सर्वप्रथम अपना आचार विचार शुद्ध करना आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य के कर्मों का प्रभाव

उसके भावों पर पड़ता है। इसके लिए शास्त्रों में जिन कर्मों को निषिद्ध माना गया है, उनका त्याग करके शास्त्रानुमोदित कर्मों को अपने आचरण में लाना चाहिये । इसके पश्चात् अपने अन्तःकरण को सात्विक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये । गीता में कहा गया है कि-

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। (गीता १४/१७)

अर्थात् सत्त्वगुण से ज्ञान होता है । रजोगुण से लोभ होता है और तमोगुण से प्रमाद, मोह, अज्ञान होते हैं । सात्त्विक अन्तःकरण में दैवी सम्पत् को बैठाना सरल हो जाता है । जिसमें दैवी सम्पत् के गुण होते हैं, उनके हृदय में भगवान् के प्रति विश्वास और भक्ति का उदय होता है । भगवत्तत्त्व-जिज्ञासा और ब्रह्म-साक्षात्कार दैवी सम्पत् के एक गुण ज्ञानयोगव्यवस्थिति के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

यद्यपि ईश्वरीय कृपा की वृष्टि सभी जीवों के ऊपर समान रूप से होती है, फिर भी उसका अनुभव और लाभ सत्पात्र को ही मिलता है ।

सत्त्व, रज, तम ये प्रकृति के गुण हैं । अन्तःकरण में इनकी वृद्धि और ह्रास का क्रम चलता रहता है । इसका निरीक्षण करते हुए राजसिक, तामसिक भाव विचारों का निराकरण करना चाहिये । इससे सात्विक भाव विचारों का पोषण होता है । मन के आहार का उस पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, इसलिये शुद्ध सात्विक आहार करना चाहिये ।

मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में वह जिस प्रकार के ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करता है, जैसे उसके मित्र और श्रद्धेय होते हैं और जिस वातावरण में वह रहता है, इन सबका महत्पूर्ण योगदान होता है । अतः इनमें पर्याप्त ध्यान देकर इनका संशोधन करना आवश्यक होता है । दुःसंग का पूर्णत्याग किए बिना मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान होना असंभव है । अग्नि छूकर एक बार बचा जा सकता है, पर अग्नि से लाल किया गया लोहा छूने पर कोई भी बिना जले नहीं बच सकता । इसी प्रकार दुर्जनों का संग करने वाला उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर-वचन और अज्ञान, आसुरी सम्पत् कहलाते हैं । इन दुर्गुणों को प्रयत्न पूर्वक दूर करना चाहिये । अभिमानी मनुष्य का शीघ्र ही पतन हो जाता है । इसलिये धन,

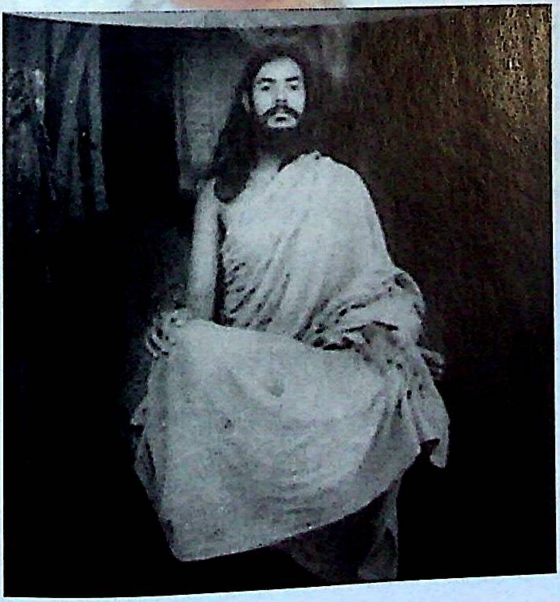
जन, रूप, बल, विद्या और कुल का अभिमान नहीं करना चाहिये।

दुर्जनों की विद्या विवाद के लिये, धन मद के लिए और बल दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिये होते हैं । जबकि सज्जनों की विद्या ज्ञान, धन दान, और शक्ति निर्बल निःसहाय लोगों की रक्षा के लिये होते हैं।

न्यायपूर्वक धन का अर्जन करना चाहिये, पर उसका अहंकार न करके उसे अच्छे कार्यों में लगाना चाहिये । इन सबसे निर्लिप्त रहने का प्रयत्न करना अपनी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक है ।

कितना भी गहरा जल हो, नाव उसमें तैरती रहेगी, डूबेगी नहीं, पर यदि उसमें छेद हो जाये और उसके भीतर पानी आ जाए तो बिना डूबे नहीं रहेगी । महात्माओं का कथन है कि तुम संसार में रहो, तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा, पर शर्त यह है कि तुम्हारे भीतर संसार न आने पाये ।

अहन्ता, ममता से ही संसार हमारे भीतर आता है । इनसे बचते हुए मनुष्य शरीर की आयु का उपयोग प्रतिपल आध्यात्मिक साधना में करते हुए परमेश्वर ने जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें मनुष्य देह प्रदान किया है, उसको प्राप्त करके ही हम उनकी कृपा को सार्थक कर सकते हैं ।



मानव शरीर का सर्वोत्तम सदुपयोग

मानव शरीर परमेश्वर की सर्वोत्तम कृति माना जाता है । कठोपनिषद् में आता है कि ब्रह्मलोक में ब्रह्म का दर्शन छाया और धूप के समान, पितृलोक में स्वप्न के सदृश, गन्धर्वलोक में जल में छाया के समान अस्पष्ट तथा मनुष्य लोक में दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान निर्मल बुद्धि में होता है । ब्रह्मलोक की प्राप्ति दुर्लभ है किन्तु मनुष्य-शरीर हमें सुलभ है । हमें इसका सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिये । मनुष्य देह की परमायु सौ वर्ष मानी जाती है पर विरले ही लोग पूरे सौ वर्ष जीते हैं । सौ वर्ष के जीवन में कुछ ही वर्ष ऐसे होते हैं जिनमें शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, स्वस्थ और सक्षम रहते हैं । इसमें भी मृत्यु की सम्भावना प्रतिक्षण रहती है । ऐसी स्थिति में इस शरीर का सर्वोत्तम सदुपयोग इसी में है कि हम अपने उन अमूल्य क्षणों को ब्रह्म दर्शन की साधना में लगायें ।

यदि हमारा लक्ष्य सगुण ब्रह्म की प्राप्ति हो तब भी भगवान् के भजन का मानव जीवन की अवधि ही उपयुक्त समय है । संसार के बन्धन से मुक्त होने का यही उपयुक्त अवसर है । अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख प्राणिमात्र का पुरुषार्थ है । पुरुषार्थ उसी को कहा जाता है, जिसे हम अपनी सभी प्रकार की चेष्टओं से प्राप्त करना चाहते हैं । दूसरे शब्दों में पुरुषार्थ वह है, जो हमारा साध्य हो तथा किसी और साध्य का साधन न हों । उदाहरणार्थ जैसे हम कहीं जा रहे हैं या कुछ कर रहे हैं, उस समय यदि हमसे कोई प्रश्न करे कि क्यों जा रहे हो ? क्यों कर रहे हो ? तो हम उत्तर में कोई प्रयोजन बतायेंगे । उसका भी प्रयोजन पूछने पर जो प्रयोजन हम बातयेंगे, उसका भी प्रयोजन पूछने की शृङ्खला चल पड़े तो अन्त में हमारे मुख से यही निकलेगा कि उससे हमें सुख मिलेगा । यहाँ प्रश्नों का अन्त हो जायेगा क्योंकि सुख साध्य है, किसी अन्य साध्य का साधन नहीं है । यह बात प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों समझते हैं । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि सुख साध्य है किसी अन्य का साधन नहीं है । यही बात जीवन की रक्षा अर्थात् अपनी सत्ता को बनाये रखना तथा पूर्ण प्रबोध भी हमारा साध्य है । वही हमारा प्रयोजन है और इसी को पुरुषार्थ कहा जा सकता है । इसी तत्त्व को तत्त्ववेत्ता ब्रह्म, परमात्मा और

भगवान् कहते हैं। कुछ लोग पूछते हैं कि भगवान् को इससे क्या लाभ है? वस्तुतः ऐसा प्रश्न भगवान् को एक व्यक्ति मानकर किया जाता है जबकि भगवान् व्यक्ति नहीं वरन् तत्त्व है। वह तत्त्व जो हमारा परम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ भी कृत्रिम नहीं सहज स्वाभाविक है। यदि भगवान् अपने भक्तों से अपना भजन चाहते हैं तो इसके मूल में भक्त को उसके परम पुरुषार्थ की प्राप्ति सुलभ करने की सदिच्छा है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की एक चौपाई है-

स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती। सुन नर मुनि सब के यह रीति।।

देवताओं और नरों का स्वार्थ तो समझ में आ जाता है पर वीतराग मुनियों का कौन सा स्वार्थ है जिसके लिये वे प्रीति करते हैं? इसके उत्तर में यही चौपाई आती है -

स्वारथ साँच जीव कर एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा।।

सच्चा स्वार्थ ही परमार्थ है। महात्मा इसी सच्चे स्वार्थ को सुलभ कराने के लिये ही जीवों से प्रेम करते हैं। सुख-शान्ति के लिये भटकते मानव को जगाने और मार्ग दिखाने के लिये भगवान् ने हमें परम दुर्लभ परमोपयोगी मानव तन सुलभ कराया। श्रुति, शास्त्रों ने बतलाया और यही सन्त महात्माओं का उपदेश रहता है। इस पर हमारा ध्यान गम्भीरता से जाना चाहिए। चौरासी लाख योनियों में अन्य सब योनि भोगयोनि है, केवल मानवयोनि ही कर्मयोनि है। नवीन कर्म इसी से किये जा सकते हैं। अपने शास्त्रों के अनुसार यदि हमारे शरीर छूटने के पहले अपने कल्याण के लिए कुछ न किया तो इस शरीर से हमने जो कर्म किये हैं उनका फल भोगने के लिये विविध योनियों में जाना पड़ेगा। यह जन्म-कर्म शृङ्खला कब तक चलेगी, नहीं कहा जा सकता।

सांसारिक भोग से मिलने वाला क्षणिक सुख पशु पक्षी शरीर से भी मिल सकता है। मानव शरीर का उपयोग इसी के लिए करना अपने साथ अन्याय करना है। अपने चरम लक्ष्य को सामने रखते हुए अपने जीवन को उसके अनुकूल बनाना चाहिए। स्वधर्म पालन करना और **परमार्थ-पथ** पर निरन्तर चलते रहना अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

मन को वश में करने के कतिपय उपाय

आध्यात्मिक-साधना में मन को वश में करना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है । मन की चंचलता साधकों की बहुत बड़ी समस्या है । श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख यही प्रश्न रखा कि जब तक मन की चंचलता नहीं मिटती तब तक आपके द्वारा उपदिष्ट योग में दृढ़निष्ठा असम्भव प्रतीत होती है । इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन की इस बात से सहमत होकर कहा- यद्यपि मनोनिग्रह कठिन है पर असम्भव नहीं । अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में किया जा सकता है । योग दर्शन में भी कहा गया है- 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात् अभ्यास एवं वैराग्य से उसका निरोध किया जा सकता है ।

विचार करके देखा जाय तो मन जीव के शरीर का एक ऐसा आन्तरिक उपकरण है, जिसमें भावों विचारों की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है । जब विचारों में परस्पर विरुद्ध विषयों का स्फुरण होने लगता है तब वह चंचल कहलाने लगता है और जब किसी एक ही विषय के स्फुरण की धारा प्रवाहित होने लगती है तब उसे एकाग्र कहा जाता है । मन की चंचलता और एकाग्रता के इस स्वरूप को समझ लेने पर उपाय करना सरल हो जाता है ।

मन में अनेकों प्रकार के संस्कार वासनाओं के रूप में भरे हुए हैं, जो तीव्रगति से एक साथ उद्बुद्ध होकर चंचलता का सृजन कर देते हैं । उनके शमन का यही उपाय हो सकता है कि उस प्रवाह में एकरूपता या समरसता लाई जाय । कर्मयोग के द्वारा प्रथम अशुभ कर्मों का त्याग और फलासक्ति को छोड़कर शुभ कर्मों का अनुष्ठान करके मन को संस्कृत बनाया जाता है । भक्तियोग में अपने इष्टदेव के प्रति निष्काम प्रीति धारा को प्रवाहित करके उसमें विरह की भावना से उसमें तीव्रता और निरन्तरता लाई जाती है ।

कोई भी इच्छा बलवती होने पर अन्य इच्छाओं को अभिभूत कर देती है । यदि यही इच्छा अपने इष्टदेव सम्बन्धी हो जाय तो अन्य सब इच्छायें दब जाती हैं ।

मन ते सकल वासना भागी ।
केवल राम चरण लौ लागी ।।

मानस में कागभुशुण्डी जी की यह स्थिति उनको सबसे विरक्त करके राम की प्राप्ति की उत्कट-उत्कण्ठा द्वारा ऋषि मुनियों के आश्रमों में भटकाती हुई लोमश मुनि के पास पहुँचा देती है ।

हमारा मन उन्हीं विषयों का चिन्तन करता है, जहाँ उसका राग या द्वेष होता है । मन उपेक्षित विषयों का चिन्तन नहीं करता है । इस तथ्य को सामने रखकर हम प्रथम शुभ कर्मों के द्वारा अपनी रुचि का परिष्कार करके इष्ट देवता से सम्बन्ध जोड़कर उनकी भक्ति से दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक उनका निरन्तर चिन्तन करते रहें तो मन की चंचलता की समस्या स्वतः शान्त हो जायेगी । योगिजन अभ्यास और वैराग्य को प्रधानता देते हैं । सहसा मन के प्रवाह को नहीं रोका जा सकता । जिस विषय से हम अपने को हटाना चाहते हैं, उनका निषेध करके हम उसको नहीं भुला सकते ।

एक दृष्टान्त है – किसी शिष्य ने अपने गुरु से सोना बनाने की युक्ति बताने का आग्रह किया । गुरु ने उसकी अनेक प्रक्रियाएँ बताते हुए कहा कि सबके अन्त में एक और क्रिया करने पर सोना बन जायेगा। वह भी हम तुमको बतलाये देते हैं पर शर्त यह है कि क्रिया को करते समय बन्दर की याद नहीं आनी चाहिये। सोना बनाने की विधि सीखकर शिष्य एकान्त में उसका प्रयोग करने बैठा पर जब अन्तिम क्रिया का अवसर आया तब उसको स्मरण आया कि गुरु ने कहा था कि 'इस क्रिया के समय बन्दर की याद नहीं आनी चाहिये ।' पर उसके मन में बन्दर की याद ने ऐसा डेरा डाला कि वह सिर पटककर और दौड़ लगाकर भी बन्दर को नहीं भूल सका । इससे यह निष्कर्ष निकला कि जिस व्यक्ति या वस्तु को हम अपने मन से निकालना चाहते हैं, उसके दोषों को जानकर उसकी उपेक्षा करें, राग या द्वेष नहीं । तभी मन से उनको हटाया जा सकता है ।

विषयों के दोष दर्शन से उनकी उपेक्षा करते हुए शनैः-शनैः मन को हटाते हुए अपने स्वरूप में स्थिर करने का प्रयास करें । जैसे निर्वात घर में दीपक की लौ स्थिर हो जाती है, वैसे ही मन में परस्पर विरोधी विषयों का चिन्तन न होकर एक ही लक्ष्य में हो जाय, इसी को योग कहते हैं । अनुभवी महात्माओं का कथन है कि हमारा मन एक ऐसे बालक के समान है जिसने विषयरूपी

खिलौने को कसकर पकड़ लिया है छोड़ता नहीं । यदि ऐसी स्थिति में उसे पालने में लिटाकर झूले में झुलाकर सुला दिया जाय तो हाथ में शिथिलता आने पर खिलौना अपने आप छूटकर गिर जायेगा । यह झूला हमारी श्वास का झूला है । 'श्वास जब बाहर निकलती है तो हम् की ध्वनि होती है और जब भीतर जाती है तब सः की ध्वनि बनती है' इस प्रकार जीव निरन्तर 'हंसः सोहम्' का अजप-जप कर रहा है, केवल मन को उसमें लगाना है । इससे मन स्वतः शिथिल होकर विषय-चिन्तन छोड़ देगा ।

एक कथा है- किसी व्यक्ति ने प्रेत का मन्त्र जपकर उसको अपने वश में करना चाहा । उसके मन्त्रजप के प्रभाव से प्रेत सामने आ गया और कहा- मैं तुम्हारी आज्ञाओं का पालन करूँगा । जो कहोगे करता रहूँगा । पर तुम्हें मुझे बराबर काम बतलाना पड़ेगा । यदि तुमने मुझे खाली छोड़ा तो तुमको खा जाऊँगा। प्रेत के कथनानुसार साधक उसको काम बतलाने लगा पर वह ऐसा विचित्र प्रेत था कि महीनों के काम को क्षण भर में कर देता था और सामने आकर कहता था कि दूसरा काम बताओ अन्यथा तुम्हें खा जाऊँगा । प्रेत का साधक घबड़ाकर किसी महात्मा के पास गया और इस संकट से बचाने का आग्रह करने लगा तो उसने प्रेत को आज्ञा दी कि जंगल से सबसे लम्बा पेड़ लाओ । वह क्षणभर में लाकर खड़ा हो गया। दूसरी आज्ञा दी- इसको छीलकर चिकना करो, तत्काल कर दिया । तीसरी आज्ञा दी- इसमें तेल डालकर इसको तर कर दो, वह भी हो गया । फिर आज्ञा दी - इस पर चढ़ो-उतरो । चढ़ते उतरते प्रेत शिथिल होकर बैठ गया । साधक संकटमुक्त हो गया । यह दृष्टान्त है । जीव साधक है, मन प्रेत है, वह अपनी चंचलता से जीव की समस्या बन गया है । यदि इसे श्वास-प्रश्वास के खम्भे में उतरने चढ़ने में लगा दिया जाय तो स्वयं ही शिथिल पड़कर उछलकूद करना छोड़ देगा । शरीर में शिथिलता जैसे सोने पर आती है, वैसे प्रेम से भी आती है । भगवत्प्रेम से शिथिल होकर भी मन सबको छोड़ देता है ।

वेदान्त के अभ्यासी कहते हैं - देहाभिमान के गलित हो जाने और परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर मन की समस्या ही समाप्त हो जाती है । उस अवस्था में सर्वत्र ब्रह्म के ही दर्शन होते हैं । तदतिरिक्त सबका बाध हो

जाता है । अब कहाँ जायेगा ?

कौए को पिंजड़े में बन्द कर पानी के बीच समुद्र में ले जाकर छोड़ दिया गया । पिंजड़े से निकलकर कौआ उड़ा पर वह जिधर गया सर्वत्र समुद्र ही दिखाई पड़ा । अन्त में थककर उसी जहाज में आकर बैठ गया। विषयों का स्फुरण या चिन्तन ही मन का स्वरूप है, पर यहाँ तो विषय ब्रह्म से पृथक् रहे ही नहीं । मन को जब समस्त देश-काल और वस्तु में सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन का दर्शन होने लगा तो अपना स्वरूप ही छोड़ दिया । मन अमन हो गया ।

उपनिषदों में बतलाया गया है- 'चित्तं चिद् विजानीयात् तकाररहितं यदा' अर्थात् चित्त के दो तकारों में से एक को हटा दिया तो वह चित् हो जाता है । तकार विषयाध्यास और चित् परमात्मा का स्वरूप है। विषयाध्यास रहित चित्त ही चित् हो जाता है । प्राणायाम से भी मन वश में हो जाता है । विचार के द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि दोषों का निवारण करने पर मन शान्त हो जाता है । गुरु के चरण-कमलों की भक्ति भी एक सर्वोत्तम उपाय है । दुर्जनों के संग का त्याग, सत्पुरुषों का संग, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय, सात्विक भोजन, भगवन्नाम का जप और कीर्तन । ये सभी परलोक को सुधारने के उपाय हैं ।



दुःख-संयोग का वियोग ही योग

पुरुष की सभी कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टाओं का प्रयोजन ही पुरुषार्थ है । समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही पुरुष का प्रयोजन है । इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये वह सतत प्रयत्नशील रहता है । पर संसार में उसे सफलता नहीं मिलती क्योंकि जिन उपायों से वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति चाहता है, वे उपाय उसको विपरीत दिशा में ले जाने वाले हैं ।

मनुष्य के राग और द्वेष का आधार सुख और दुःख हैं । जिसे वह सुख का साधन समझता है, उसमें राग और जिसे दुःख का कारण समझता है, उसमें द्वेष करता है । कौन प्रिय है और कौन अप्रिय, इसका निर्धारण भी सुख--दुःख की जनकता पर ही निश्चित करता है ।

जिन प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों में उसकी प्रिय-बुद्धि होती है, उनकी प्राप्ति और जिनमें अप्रिय बुद्धि होती है, उनके परिहार के लिये उसके सब प्रयत्न होते हैं । पर हम देखते हैं कि प्रियता और अप्रियता में परिवर्तन होता रहता है । जो वस्तु आज हमें प्रिय लगती है, वही कल अप्रिय हो जाती है ।

सामान्य-जन जिनके साथ प्रिय सम्बन्धों का निर्माण करके अपने स्वजन सम्बन्धी यहाँ तक कि माता-पिता की भी अवहेलना करने लगते हैं, कालान्तर में वही उसके जी का जञ्जाल बन जाते हैं ।

मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र समझना तो प्रायः देखा ही जाता है । मित्र के शत्रु और शत्रु के मित्र हो जाने का क्या कारण है ? इस पर विचार किया जाना चाहिये । अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राणी को शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों का साक्षात्कार होता है, इनमें जो सुख प्रतीत होते हैं, उनमें राग और जो दुःखजनक प्रतीत होते हैं, उनमें द्वेष होता है । पर हम देखते हैं जो विषय एक व्यक्ति को अनुकूल प्रतीत होता है, वही दूसरे को प्रतिकूल प्रतीत होता है । यहाँ तक कि जिस व्यक्ति को एक समय जो विषय अनुकूल लगता है, वही कालान्तर में प्रतिकूल हो जाता है । वास्तव में अनुकूलता और प्रतिकूलता का निर्माण हमारा मन करता है । पर मन में भी एकरूपता नहीं है । मन सत्त्व,

रज और तम के अनुसार परिवर्तित होता रहता है क्योंकि वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में तीन प्रकार के सुख बताये गये हैं– जो पहले विष के समान प्रतीत हो पर परिणाम में अमृत के समान हो, वह आत्माकार बुद्धि की निर्मलता से होने वाला सुख सात्विक सुख है । जो पहले अमृत के समान लगता हो पर परिणाम में विष के समान हो, विषय और इन्द्रियों के संयोग से जिसकी उत्पत्ति होती हो, वह राजसिक सुख है । तथा जो पहिले और अन्त में स्वयं को मोह में डालने वाला हो, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होने वाला सुख तामसिक है।

यही कारण है कि गुणों के परिवर्तन से एक ही व्यक्ति की सुख–दुःख–बुद्धि परिवर्तित होती रहती है । मनुष्य की रुचि, आहार, श्रद्धा और मित्रता भी मानसिक गुणों का अनुसरण करती है । जिससे प्रियता हट जाती है, वही अप्रिय होकर दुःख का कारण बन जाता है । इन सब कारणों से भोगों से प्राप्त होने वाले सुख–दुःखों को द्वन्द्वात्मक सुख–दुःख माना गया है । सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् सुख नियम से रात्रि और दिवस के समान क्रमशः आते रहते हैं । इनकी प्राप्ति और परिहार में निरन्तर लगे रहने पर भी सुख को सुस्थिर नहीं किया जा सकता । सुख में आसक्ति और दुःख का भय और दुःख के समय सुख की तृष्णा मनुष्य को बेचैन किये रहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा– कौन्तेय! विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो शीत, उष्ण आदि होते हैं, वे सुख और दुःख को देने वाले हैं । यह सुख दुःख आकर जाने वाले और स्वयं नाशवान् हैं, तू इनको सहन कर । जो पुरुष इनसे व्यथित नहीं होता तथा धैर्य–पूर्वक इनमें सम रहता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है । हमारे उपनिषद् गीता आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में ऋषि–मुनियों ने बताया है कि इन द्वन्द्वात्मक सुख–दुःखों से विलक्षण एक नित्य सुख है जो आत्यान्तिक है, सदा रहने वाला और जिसको प्राप्त करने के पश्चात् साधक इससे बढ़कर किसी को लाभ नहीं मानता और इसमें स्थित हो जाने पर बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता । दुःख के संयोग का आत्यन्तिक वियोग होने के कारण इसे योग भी कहते हैं । इस योग की प्राप्ति संसार से अनासक्त होकर परमात्मा के स्वरूप में निवातदीप की निश्चल ज्योति के समान निश्चल निष्ठा से

होती है ।

अनन्य भक्ति भी इसका अन्यतम साधन है । भगवान् के प्रति अहैतुकी अविरल अनुराग-धारा का नाम भक्ति है । भगवद्भक्ति से भक्ति मति वाले पुरुषों को जो आनन्द मिलता है, उसके सामने मोक्ष-सुख भी तुच्छ हो जाता है । ऐसे भक्त भगवान् के द्वारा दिये जाने पर भी मोक्ष के स्थान पर भक्ति को ही स्वीकार करना चाहते हैं । नवधा भक्ति इस प्रेम-लक्षणा भक्ति का साधन है ।

इस प्रकार देखा जाय तो पुरुषार्थ का साधन वह नहीं है, जिसको सामान्य मनुष्य विषयों में मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं । ऐसे लोगों की दशा उस मृग के समान है जो काई से ढके हुए जल को छोड़कर मरु-मरीचिका में जलबुद्धि से दौड़ता हुआ अपने प्राण गवाँ बैठता है या उस कस्तूरीमृग के समान है, जो अपनी नाभि की कस्तूरी को न देखकर उसका सौगन्ध्य प्राप्त करने के लिए वन-वन भटकता है ।

भगवद्भक्ति या भगवत्तत्त्वविज्ञान उन्हीं को प्राप्त होता है जो अन्तर्मुख होते हैं । भगवती राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी के सहस्रनामों में एक नाम है 'अन्तर्मुखसमाराध्या, बहिर्मुखसुदुर्लभा' अर्थात् माँ अन्तर्मुखों के द्वारा आराध्या और बहिर्मुखों के लिये सुदुर्लभा है ।

इसका क्रम है, प्रथम- अधर्म का त्याग और धर्म का पालन । द्वितीय- कामनाओं का त्याग करके धर्म का अनुष्ठान । तृतीय - धर्म-कर्म के पालन के साथ भगवान् की आराधना । अधर्म से मानसिक अशान्ति बढ़ती है । पाप-पाखण्ड-हिंसा और परपीड़न करने वाला भले ही करोड़पति हो जाय, वायुयान में घूमे, वातानुकूलित भवनों में निवास करे तो भी वह शान्ति नहीं पा सकता । 'अशान्तस्य कुतः सुखम् अर्थात् अशान्त को सुख कहाँ ? हमारे पूर्वज ऋषि मुनियों ने जो आध्यात्मिक मार्ग हमको दिखलाया है, वही सच्चे सुख का मार्ग है।

जिसके सुख का स्रोत भीतर है, वह सुख की प्राप्ति में स्वतन्त्र है और जिसके सुख का स्रोत बाहर है, वह परतन्त्र है । सुख के सम्बन्ध में परवशता दुःख और स्ववशता सुख है ।

संक्षेप में सुख-दुःख का यही लक्षण है ।

सच्चा सुख अपने भीतर है

पुरुष के प्रयोजन को पुरुषार्थ कहते हैं । जो वस्तु ज्ञात होकर अपनी हो, वह इष्ट और वही प्रयोजन कही जाती है । समस्त दुःखों का अत्यन्ताभाव और निरतिशय आनन्द प्रत्येक प्राणी का मुख्य प्रयोजन होता है । इसी को लक्ष्य बनाकर मनुष्य की प्रवृत्ति-निवृत्ति हुआ करती है । प्रवृत्ति किसमें हो और निवृत्ति किसमें हो, इसका ज्ञान जीवन को सफल बनाने के लिये अत्यन्त आवश्यक है ।

सुख की इच्छा प्राणिमात्र की मौलिक इच्छा है पर सुख भी सातिशय और निरतिशय भेद से दो प्रकार का होता है । विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति के तारतम्य से होने वाले आनन्द विशेष के आविर्भाव को सातिशय सुख कहते हैं । निरतिशय सुख ब्रह्म है । समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा ही ब्रह्म है। वही वास्तविक अनन्त सुख है । विषयों के सम्बन्ध से होने वाला सुख उसकी मात्रा है । विषयजन्य सुख के अनुभव का क्रम है- पहले जीव अपने सुख के या सुख के साधन के अभाव का अनुभव करता है । इसके पश्चात् किसी प्राणी या पदार्थ में रमणीय बुद्धि करके उसकी प्राप्ति को सुख का साधन मान बैठता है । फिर उसको प्राप्त करने की तीव्र इच्छा करता है । जब एक इच्छा प्रबल हो जाती है तब अन्य इच्छाओं को गौण कर देती है । जब तक इच्छा पूर्ण नहीं हो जाती तब तक काँटे की भाँति मन में चुभती रहती है और जब इच्छित की प्राप्ति होती है तब एक साथ मन में प्रसन्नता और इच्छा के अभाव की स्थिति बनती है । अन्तःकरण की इस शान्त और सात्त्विक अवस्था में परमानन्दस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, यही विषय-सुख कहलाता है । पर इसमें भ्रान्ति हो जाती है कि यह सुख इच्छित विषय की प्राप्ति से हुआ है, जबकि यह उसका आत्मा ही है । इस सुख में विषय की पराधीनता और क्षणिकता के कारण इसको हेय माना जाता है । साथ ही इसके पश्चात् दुःख होता है । जैसे रात और दिन का जोड़ा होता है । दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् नियम से दिन होता है, उसी प्रकार दुःख के पश्चात् सुख और सुख के पश्चात् दुःख नियम से होता है ।

जब कोई शिशु देर तक खिलखिलाकर हँसता है तब मातायें कहती हैं - "अब यह रोयेगा" । क्योंकि सुख-दुःख का जोड़ा है । ऐसे सुख को विचारवान् पुरुष दुःख ही समझते हैं । वे विषय और इन्द्रियों के संयोग से मिलने वाले सुख-दुःख की उपेक्षा करके उस नित्यसुख की खोज करते हैं जो नित्य और पूर्ण है । इसकी प्राप्ति के लिये षट्सम्पत्ति की आवश्यकता पड़ती है । षट्सम्पत्ति है - शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा । मन का निग्रह शम, इन्द्रियों का निग्रह दम, गुरु एवं वेदान्त के वाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा, मन की एकाग्रता समाधान, भोगों की उपेक्षा को उपरति और अव्यग्र चित्त से शीतोष्णादि द्वन्द्व सहते जाने को तितिक्षा कहते हैं ।

जैसे बहुमूल्य भूमि और भवन खरीदने के लिये क्रेता सम्पत्ति लेकर निकलते हैं, वैसे ही इस षट्सम्पत्ति से मोक्ष रूपी साम्राज्य को प्राप्त किया जा सकता है, यह जानकर मुमुक्षु इनको जुटाते हैं । सांसारिक वस्तु खरीदने के लिये गाँठ में दाम लेकर लोग बाजार जाते हैं, इसके विपरीत भोगों का बाजार छोड़कर साधक षट्सम्पत्ति को अन्तःकरण में लेकर अपने भीतर वास्तविक आनन्द की खोज करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा -

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।

अर्थात् बाह्यभोगों से अनासक्त साधक अपने भीतर जिस सुख का अनुभव करता है, ब्रह्मयोगयुक्तात्मा के लिये वह अक्षय हो जाता है ।

ज्ञानी जहाँ एक ओर उस अनन्त-अखण्ड ब्रह्म को अपने आत्मा के रूप में जानकर जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव अपने भीतर करते हैं, वहीं दूसरी ओर भगवद्भक्त उसी ब्रह्म को अपना प्राणधन प्रियतम समझकर उसको विविध भावों से भावित करके शुद्ध अन्तःकरण में देखते हुए उनके नाम-रूप-लीला और धाम का चिन्तन करते हुए प्रेमरस का रसास्वादन करते हैं । मनुष्य के जीवन की नीरवता का अन्त तभी होता है जब उसे ब्रह्मानन्द या भगवदानन्द की अनुभूति होने लगती है । भगवती राजराजेश्वरी ललितामहात्रिपुरसुन्दरी के सहस्र नामों में एक नाम है - **अन्तर्मुखसमाराध्या बहिर्मुखसुदुर्लभा** अर्थात् वह भगवती अन्तर्मुख जनों के द्वारा आराधना के योग्य हैं तथा बहिर्मुख जनों

के लिए उनकी प्राप्ति सुदुर्लभ है । नदी या नहर की धारा को अनुकूल दिशा प्रदान करने के लिये जैसे चतुर शिल्पी दूर से ही उसकी धारा को मोड़ने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार स्वयं को शमदमादि साधनों से सम्पन्न बनाने के लिये जीवन के प्रारम्भ से ही मार्ग पकड़ा जाता है । कठोपनिषद् में बतलाया गया है –

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं च सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।

आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध – उस रथ के चलने का मार्ग है । शरीररूपी रथ को इन्द्रियरूपी घोड़े कुमार्ग में न ले जाने पायें इसके लिये इन घोड़ों के विषयों में दोषदर्शन रूप निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति और विहित कर्मों में प्रवृत्ति का ज्ञान उन लोगों को नहीं होता जो दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर वचन, "यह मैंने पा लिया", "यह पा लूँगा", इस प्रकार के आसुर भावों से घिरे हुए हैं ।

क्या करना चाहिये और किससे बचना चाहिये यही प्रवृत्ति, निवृत्ति का ज्ञान है । सत्पुरुषों से शास्त्रों का श्रवण करके तदनुकूल आचरण करते हुए आत्मनिरीक्षण के द्वारा अपनी मानसिक स्थिति को समझकर राजसिक, तामसिक भावों को हटाकर सात्त्विक भावों को लाने का प्रयत्न करना चाहिये । इसके लिये अपना आहार, यज्ञ, ज्ञान, दान, तप, बुद्धि, धृति सबको शुद्ध करना चाहिये।

चित्त की शुद्धि ही वास्तविक सिद्धि है और सबसे विरक्ति ही चित्त की शुद्धि है। मनुष्य शरीर दुर्लभ है, क्षणभङ्गुर है । इसका प्रत्येक क्षण उपयोगी है । मनुष्य चौबीस घण्टों में इक्कीस हजार छः सौ श्वास लेता है । जीवन की श्वासे गिनी हुई हैं । जो निकल गई वह लौटकर नहीं आयेगी । इसलिये सदा सावधान रहना चाहिये ।

स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास करें

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में सुख-शान्ति चाहता है। इसके साधनों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का उल्लेख हमारे दार्शनिकों ने किया है। इन्हें ही पुरुषार्थचतुष्टय की संज्ञा प्राप्त है। वही भारतीय जीवन पूर्ण माना जाता है, जिसमें इन चारों का समन्वय हो। यह बताया गया है कि अर्थ का उद्देश्य धर्म है। अर्थ का अर्जन भी धर्म के अनुसार होना चाहिये। इसी तरह काम जीवन धारण के लिए है, इन्द्रियों की तृप्ति के लिये नहीं। धर्म का उद्देश्य मोक्ष है।

हमारे शास्त्रों में सृष्टि को त्रिगुणात्मिका माना गया है। वे गुण हैं- सत्त्व, रज और तम। जब बुद्धि निर्मल हो और भजन चिन्तन में मन लगे तो समझना चाहिये कि अन्तःकरण में सत्त्वगुण का प्रकाश हुआ है। इसी तरह रजोगुण के बढ़ने पर कर्म में प्रवृत्ति और तमोगुण के बढ़ने पर निद्रा, आलस्य और प्रमादादि की वृद्धि होती है। स्पष्ट है कि जीवन को पवित्र बनाने के लिए अपने मन में सत्त्वगुण का आधान करना चाहिये। सात्त्विक आहार, सज्जनों की संगति एवं सत्साहित्य का अध्ययन सत्त्वगुण बढ़ाने के साधन हैं। तीर्थयात्रा, दान और तप भी अन्तःकरण को स्वच्छ बनाते हैं।

यही कारण है कि आध्यात्मिक अभिरुचि के लोग अपने हृदय को पवित्र करने के लिये पुण्यक्षेत्रों की यात्रा करते हैं और उन क्षेत्रों में आध्यात्मिक महापुरुषों का सत्संग करके स्वयं को धन्य बनाते हैं।

व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे वृक्ष-वृक्ष से वन बनता है, बूँद-बूँद से जलाशय का निर्माण होता है, उसी प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति से समाज निर्मित होता है। अतः प्रत्येक भारतीय के द्वारा की गई स्वयं की आध्यात्मिक उन्नति समाज का घटक होने के नाते पूरे देश की आध्यात्मिक उन्नति का कारण बन सकती है।

सुख और ज्ञान का साधन : सत्त्वगुण

संसार के सभी प्राणी दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के आकांक्षी हैं। पर देखा यह जाता है कि दुःख सदा सामने आता है और सुख या तो भूत की स्मृति के रूप में या भविष्य की कल्पना के रूप में ही प्रतीत होता है । वर्तमान में सुख का अनुभव सांसारिक प्राणियों को नहीं हो पाता । ऐसी स्थिति में दुःख की निवृत्ति और परम सुख की प्राप्ति का एकमात्र उपाय यद्यपि आत्मज्ञान है पर व्यवहार में भी दुःखों से बचा जा सकता है ।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है-

अनविचार रमणीय सदा संसार भयङ्कर भारी ।
सम संतोष दया विवेक से व्यवहारी सुखकारी ।।

इसका अर्थ है- यद्यपि संसार अविचारित रमणीय है, अत्यन्त भयङ्कर है, फिर भी सम (मन का निग्रह) संतोष, दया और विवेक के द्वारा व्यवहार योग्य सुखकारी बन जाता है । वेदान्त के ग्रन्थों में भी दो प्रकार की सृष्टियों का उल्लेख है । एक ईश्वरसृष्टि और दूसरी जीवसृष्टि । इसका उदाहरण है- दो व्यक्ति कमाने के लिए एक ही गाँव से परदेश गये । दोनों ने व्यापार प्रारम्भ किया । एक ने खूब धनोपार्जन कर लिया और दूसरा रुग्ण होकर मर गया । कुछ काल के पश्चात् एक व्यक्ति उनके गाँव की ओर आ रहा था तो पहले ने अपने घर के लोगों के पास अपनी कुशलता का समाचार दिया और यह भी कहा कि हमारा जो मित्र था, उसके घर में उसकी मृत्यु का एवं व्यापार में घाटे का समाचार भी बता देना ।

संदेश देने वाले ने दुष्टतापूर्वक संदेश को उलटा कर दिया । जिसके घर का व्यक्ति मर गया था, उसके घर में कुशलता का समाचार दे दिया और जिसके घर का जीवित था, उसके घर मृत्यु का समाचार दे दिया। परिणाम यह हुआ कि जिसके घर का प्राणी मर गया था, उसके घर हर्षोल्लास होने लगा और जिसके घर का जीवित और सकुशल था, उसके घर पर शोक छा गया । ईश्वर की सृष्टि में जो मर गया है, वह जीवसृष्टि में जीवित है, इसीलिये सुख हो रहा है और ईश्वरसृष्टि में जीवित

होने पर भी जीवसृष्टि में मर गया, इसलिये दुःख हो रहा है।

जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है। हानि-लाभ, जय-पराजय, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण आदि का प्रभाव मन पर पड़ता है। यदि अपना मन संतुलित हो तो इन द्वन्द्वों को विवेकपूर्ण झेला जा सकता है। इसलिये हमें अपने मन की ओर ध्यान देना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जगत् का कारण प्रकृति त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्त्व, रज और तम गुणों वाली है। इसलिये प्रकृति से होने वाले प्राकृत जगत् में और हमारे अन्तःकरण में भी तीन गुण क्रमशः आते हैं। सत्त्वगुण के आने पर ज्ञान का उन्मेष और सुख की अनुभूति होती है। रजोगुण में मनुष्य के हृदय में अनेकों इच्छाओं का उदय होता है और उनकी पूर्ति के लिये कर्मों में प्रवृत्ति आती है। काम-क्रोध भी रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। जो हमारी बुद्धि को प्रभावित करके हमें पापकर्मों की ओर ढकेलते हैं।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निःसन्देह लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है। यह नियम है कि उत्तम फल, उत्तम कर्मों से प्राप्त होते हैं और अनिष्ट फल, निकृष्ट कर्मों से प्राप्त होते हैं। यदि निश्चय उत्तम है तो उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होगी और यदि निश्चय अविवेकपूर्ण है तो अधम कर्मों में प्रवृत्ति होगी। निश्चय करना बुद्धि का कार्य है। निश्चय को ही अध्यवसाय कहते हैं। प्रायः रजोगुण, तमोगुण से होने वाले विकार बुद्धि को प्रभावित करते हैं और प्रभावित बुद्धि विकारों के अनुरूप निश्चय कर बैठती है। इसको कार्पण्यदोष भी कहा जा सकता है।

बुद्धि का विकरों से प्रभावित होना ही कार्पण्य है और अप्रभावित रहते हुए अपना निश्चय उत्तम बनाए रखना उदार बुद्धि का लक्षण है। बुद्धि उत्तम निर्णय तब करती है जब निर्विकार होती है, काम, क्रोध, लोभ आदि दोषों से अप्रभावित होती है। इसलिए बुद्धि को विवेकयुक्त बनाये रखना और शम-सन्तोष-दया आदि सद्गुणों से दुर्गुणों को अपने मन में न उठने देना आवश्यक है। ऐसा तभी हो सकता है जब हमारे कर्मों में शुद्धि हो। यह निश्चय है कि क्रियाशुद्धि से

भावशुद्धि होती है । भावशुद्धि से विचारशुद्धि होती है और विचारशुद्धि से उत्तम निर्णय होते हैं । इसीलिये अपने जीवन में तमोगुण और रजोगुण को कम करते हुए सत्त्वगुण को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये । सत्त्वगुण बढ़ाने के लिए सत्त्वगुणी आहार आवश्यक होता है । शास्त्र कहते हैं –

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिशुद्धौ सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।।

इसका अर्थ हुआ – आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि, अन्तःकरण से स्मृति में दृढ़ता एवं स्मृति की शुद्धि से मनुष्य की मानस ग्रन्थियों का मोक्ष हो जाता है ।

आहार केवल वह नहीं है जो हम मुख से खाते हैं । जो कुछ भी इन्द्रियों से गृहीत होता है, वह आहार ही है । हम आँख से अच्छा देखें, कान से अच्छा सुनें और मन से भी सबके कल्याण की बात सोचें । इन्द्रियों से विषयों का जो ग्रहण होता है, उन्हीं को आहार कहते हैं । इन आहारों को शुद्ध करने के लिए उत्तम व्यक्तियों का संग करना चाहिये । सत्साहित्य का अध्ययन करना चाहिये और सबसे मुख्य; प्रातःकाल उठकर अपने इष्टदेव का ध्यान करना चाहिए । चार बजे से लेकर छः बजे का समय ब्रह्ममुहूर्त कहलाता है । भगवान् श्रीकृष्ण महान् गृहस्थ थे । उनकी दिनचर्या में आता है –

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय, वायुर्पस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ।।

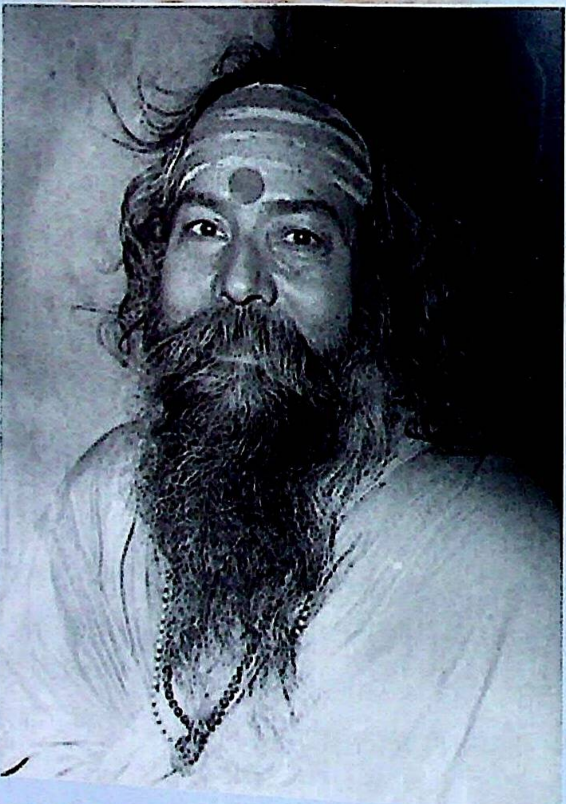
इसका अर्थ है – भगवान् माधव ब्रह्ममुहूर्त में उठकर जल का स्पर्श करते थे और प्रसन्न मन और इन्द्रियों से युक्त होकर अज्ञान से परे स्वयं प्रकाश ब्रह्म का ध्यान करते थे ।

यदि २४ घण्टे में एक बार भी मन को निर्विकार कर लिया जाय तो उसका प्रभाव दिन भर पड़ता है । बहुत से कलुषित विचार स्वयं ही दूर हो जाते हैं । बहुत सी शङ्काएँ दूर हो जाती हैं । महात्माओं का सत्संग भी इसमें सहायता करता है । उनके आभा मण्डल में सात्विकता होती है, इसलिए उनके दर्शन और समीप बैठने मात्र से अनेकों शङ्काओं का समाधान हो जाता है और अनेकों का तो जीवन ही बदल जाता है। विशुद्ध मन उसको कहते हैं, जिसमें समता होती है ।

पूर्ण समता आ जाने पर मन उत्तम हो जाता है। मन को ही चित्त कहते हैं, चित्त में दो 'त' कार हैं। एक 'त' कार विषयों का अध्यास है। यदि उसे मिटा दिया जाय तो चित्त ही 'चित्' हो जाता है। वास्तविक तत्त्वज्ञान होने पर ही वर्तमान में सुख का अनुभव हो सकता है, इसलिये जीवन्मुक्त के समबन्ध में कहा गया है –

भविष्यन्नानुसंधत्ते नातीतं चिन्तयत्यसौ ।
वर्तमाननिमेषन्तु हसन्नेवातिवर्तते ।।

अर्थात् तत्त्वज्ञानी न तो भविष्य का अनुसन्धान करता है और न ही अतीत की चिन्ता। वह तो वर्तमान में स्थित होकर प्रसन्नता का अनुभव करता है। यही है समग्र शान्ति का मार्ग, जिस पर चलकर अपने जीवन को सुखमय बनाया जा सकता है और विपरीत परिस्थितियों में धैर्य रखते हुए द्वन्द्वों से बचा जा सकता है।



अमृतत्त्व की ओर

हमारी संस्कृति मनुष्य को बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर जाने को प्रेरित करती है, जबकि आज के वातावरण में भोगवाद की प्रधानता है । आज जो लोग संयम एवं सदाचार की बात करते हैं उनकी उपेक्षा होती है और जो उन्मुक्त रहते हुए ऐहिक सुख में रुचि रखने वाले हैं, उनका आदर होता है । आज की पत्र पत्रिकाएँ, रेडिया, टेलीविजन आदि भी इसी प्रकार का प्रचार और दृश्य दिखलाते हैं, जिससे हमारा नवयुवक प्रभावित हो रहा है । यह प्रवृत्ति मनुष्य को पाशविकता की ओर ले जाने वाली है । पशु स्वाभाविक जीवन जीता है उसके सामने विधि-निषेध नहीं है । वह तो जो मिला वह खाता है, कहीं भी मलमूत्र का त्याग करता है और किसी में संतान उत्पन्न कर देता है । किन्तु धर्म और संस्कृति मानव को स्वेच्छाचार से ऊपर उठाती है । कठोपनिषद् में एक रूपक है, जिसमें यह कहा गया है कि आत्मा रथी और शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है और बुद्धि सारथी है । बुद्धि सारथी की जरा सी भी असावधानी इन्द्रियरूपी घोड़ों का नियन्त्रण शिथिल कर देती है और व्यक्ति शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों की ओर ले जाने वाले इन्द्रिय समूह का अनुगमन करने लग जाता है और अन्ततः जीव विषयलिप्सु होकर जन्म-मरणरूपी मृत्यु के गर्त में गिरता है । श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है कि इन्द्रियाँ जब अपने विषयों को ग्रहण करने चलती हैं और जीव मन का नियन्त्रण ढीला कर देता है, तब जैसे नाव पवन के वेग से प्रेरित होकर भँवर में फँसकर डूब जाती है उसी प्रकार प्राणी संसार-समुद्र में डूब जाता है क्योंकि इन्द्रियाँ आत्मा-अनात्मा का विवेचन करने वाली प्रज्ञा का हरण कर लेती है । धर्म का आधार आत्मा को शरीर से पृथक् समझना ही है । जो लोग शरीर को ही आत्मा मानते हैं, मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्त्व को अस्वीकार करते हैं, वे पापमय जीवन बिताकर बार-बार मृत्यु के ग्रास बनते हैं ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है - **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।** अर्थात् आत्मा से आत्मा का उद्धार करें । आत्मा का पतन न होने दें क्योंकि आत्मा ही

आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु। जिसने पुरुषार्थ के द्वारा अपने मन और इन्द्रियों को वश में कर लिया आत्मा उसका मित्र है और जिसने इनको वश में नहीं किया वह अपना शत्रु है। मानव शरीर में ही हमें ऐसा अवसर है कि हम आत्मा का उद्धार करें।

यजुर्वेद में तीन मन्त्र हैं – **असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय।**

इसमें मा का अर्थ माम् है अर्थात् मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ। अन्धकार से ज्योति की ओर ले जाओ तथा मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले जाओ। असत् और अन्धकार वह जीवन है जिसमें साधना नहीं, और साधना रहित जीवन ही मृत्यु है। अमृतत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति का ज्ञान होना चाहिए। जिसमें प्रवृत्त होने की आज्ञा शास्त्र देता है, वह प्रवृत्ति और जिसको न करने की आज्ञा शास्त्र देता है, वह निवृत्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है–

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।

आसुर स्वभाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति – इन दोनों को ही नहीं जानते। इसलिए इनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है। आसुरी सम्पत् जीव के मन में अभिमान, दम्भ और दर्प उत्पन्न करता है जिससे प्राणी काम, क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर दूसरों और स्वयं को दुःख के समुद्र में ढकेल देता है। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने जीवन को परिष्कृत बनायें। यह तभी सम्भव है जब हम अपने शास्त्रों का अध्ययन करके यह सुनिश्चित करें कि कर्त्तव्य क्या है और अकर्त्तव्य क्या है।

वस्तुतः शास्त्रोक्त कर्त्तव्य ही धर्म है और शास्त्रनिषिद्ध कर्त्तव्य अधर्म। जिनके कुल में उपनयन संस्कार होते हैं, वे द्विजाति बालक उपनयन के पहले तक यथेच्छ सन्ध्योपासनादि क्रियाओं से आबद्ध नहीं होते, आचार सम्बन्धी शिथिलता भी उनकी क्षम्य होती है पर उपनयन के पश्चात् उनका पूरा जीवन नियन्त्रित हो जाता है। सामान्य-जन भी जब तक योग्य गुरु से दीक्षा नहीं लेते

तभी तक उनका खान–पान, रहन–सहन आदि अनियन्त्रित रहता है किन्तु गुरु–दीक्षा लेते ही वह नियन्त्रित हो जाते हैं । यही समझकर दीक्षा लेने वाले लोग अपना जीवन आगे पवित्रता से बिताते हैं । इस प्रकार की भावना और आचरण भी असत् , तमस् और मृत्यु से मुक्ति दिलाने वाले हैं । कर्त्तव्य का पालन करते–करते ही जब हृदय स्वच्छ हो जाता है तो भगवद्भक्ति का उदय होता है । यह भक्ति भगवान् के प्रति उस स्नेह का नाम है, जिसका कोई लौकिक कारण नहीं है। नारदभक्तिसूत्र में भी कहा गया है – **गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानं अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्** । ऐसे प्रेम में निरन्तरता होती है, जैसे गङ्गा की धारा समुद्र की ओर निरन्तर प्रवाहित होती है, उसी प्रकार मन की स्नेहमयी धारा भगवान् की ओर उन्मुख बहने लगती है । तब स्वाभाविक रूप से मन विषयों से विमुख हो जाता है । किसी बच्चे के हाथ में यदि खिलौना है तो वह सहज में किसी और को नहीं देता । बलात् छीनने पर रोता है । हमारा मन भी बालक के समान ही है । वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूपी खिलौने हाथ में पकड़कर अपने को उनमें जकड़ लेता है । इसी प्रकार जब मन प्रेम–परिप्लुत हो जाता है तो उसमें शैथिल्य आ जाता है । वह शिथिल होकर विषयरूपी खिलौनों का त्याग कर देता है । और अधिक प्रेम की बुद्धि होने पर मन सभी प्रकार के आकारों का त्याग कर देता है । स्वयं निराकार निर्विकार ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है । यही ज्ञान है जो मोक्ष का एकमात्र साधन माना जाता है । **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिलती । बहिर्मुखता अर्थात् विषयपरायणता ही मृत्यु है और अन्तर्मुखता अर्थात् आत्मपरायणता ही अमृतत्त्व है । इसलिए आवश्यकता है कि हम इस वैदिक प्रार्थना को दोहराएँ जिसमें असत् से सत् , तमस् से प्रकाश और मृत्यु से अमृतत्त्व की ओर जाने की कामना की गई है – **असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतं गमय।**

विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय अवस्थाओं का अभिधान है राम नाम

राम नाम की महिमा अनन्त है। तुलसीदास जी ने–

''बंदउँ नाम राम रघुवर के। हेतु कृसानु भानु हिमकर को।।''

कहकर राम के नाम की वन्दना की है। यहाँ हेतु का अर्थ अपर कारण लिया जाए तो प्रश्न उठेगा कि राम नाम मात्र अग्नि, सूर्य और चन्द्र का ही कारण क्यों होगा ? ब्रह्मसूत्र की भामती व्याख्या के प्रारम्भ में ब्रह्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है – **यस्य निःश्वसितं वेदाः** । अर्थात् वेद जिसके निःश्वास है। वह परब्रह्म है।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के पांचवे सूत्र **ईक्षतेर्नाशब्दम्** की विशद व्याख्या करते हुए बताया कि इस संसार की उत्पत्ति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमात्मा के द्वारा हुई है। उत्पत्ति भी सभी मनुष्यों के सभी कर्मों को जानने पर ही सम्भव है। क्योंकि प्रत्येक प्राणी को उसके कर्मानुसार फल देने वाले को सब के कर्मों और उनके फल का ज्ञाता तथा शक्ति सम्पन्न होना चाहिए।

परमात्मा की सृष्टि कुम्भकार की तरह मिट्टी खोदने से लेकर घट निर्माण तक की प्रक्रिया की तरह सम्भव नहीं होती अपितु द्रष्टि मात्र से सम्पन्न होने वाली है। इसीलिए उपनिषदों में कहा– **''वीक्षितमस्य पञ्च भूतानि''** और फिर भगवान् ने मुस्कुराया। उनकी मुस्कुराहट से अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत पञ्चीकृत होकर सम्पूर्ण विश्व रूप में परिणत हो गये। भगवान् ने इतना कर निद्रा का आलम्बन लिया तो प्रलय हो गई, **''अस्य च सुप्तं महाप्रलयः''**।

जहाँ अभिधा से कार्य नहीं बनता वहाँ लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। **''गङ्गयां घोषः''** अर्थात् गङ्गा में झोपड़ी है कहने से वाच्यार्थ गङ्गा अर्थात् जल प्रवाह में झोपड़ी है यह होगा। परन्तु जलप्रवाह में झोपड़ी होना सम्भव नहीं है अतः लक्षणा का आश्रय लेकर कहना होगा कि **'गङ्गा में झोपड़ी'** का अर्थ गङ्गा किनारे झोपड़ी होगा।

इसी तरह "हेतु कृशानु भानु हिमकर को" इसमें हेतु का अर्थ कारण करना होगा और कारण का भी अर्थ बीज होगा। अ से लेकर ह तक जितने भी

अक्षर हैं उनमें अनुस्वार लगाकर बीजमन्त्र बनता है। अग्नि का बीज मन्त्र रं, सूर्य का बीजमन्त्र अं, हिमकर (चन्द्रमा) का बीज मन्त्र मं, इन तीनों र अ म को मिला देने से राम नाम बनता है । यही क्रमशः चारों अवस्थाओं का अभिधान है-

"रामभगति जहँ सुरसरि धारा, सरसइ ब्रह्मविचार प्रचारा ।।"

अर्थात् प्रयाग में गङ्गा, यमुना तथा सरस्वती का संगम है । भक्ति की चर्चा ही गङ्गा की धारा है, ब्रह्म का वेदान्त के अनुसार विचार ही सरस्वती है तथा विधि निषेधमय शास्त्र ही मानों यमुना जल है ।

यह विधि निषेधात्मक शास्त्र जीवन के लिए अतिआवश्यक है । इसके बिना व्यक्ति, जो करना चाहिए उसे छोड़ देगा और जो नहीं करना चाहिए उसे करने लगेगा, जिससे अनर्थ की सम्भावना बनी रहेगी। शास्त्रों के अनुसार जीवन व्यतीत करने का लाभ इस उदाहरण से जाना जा सकता है ।

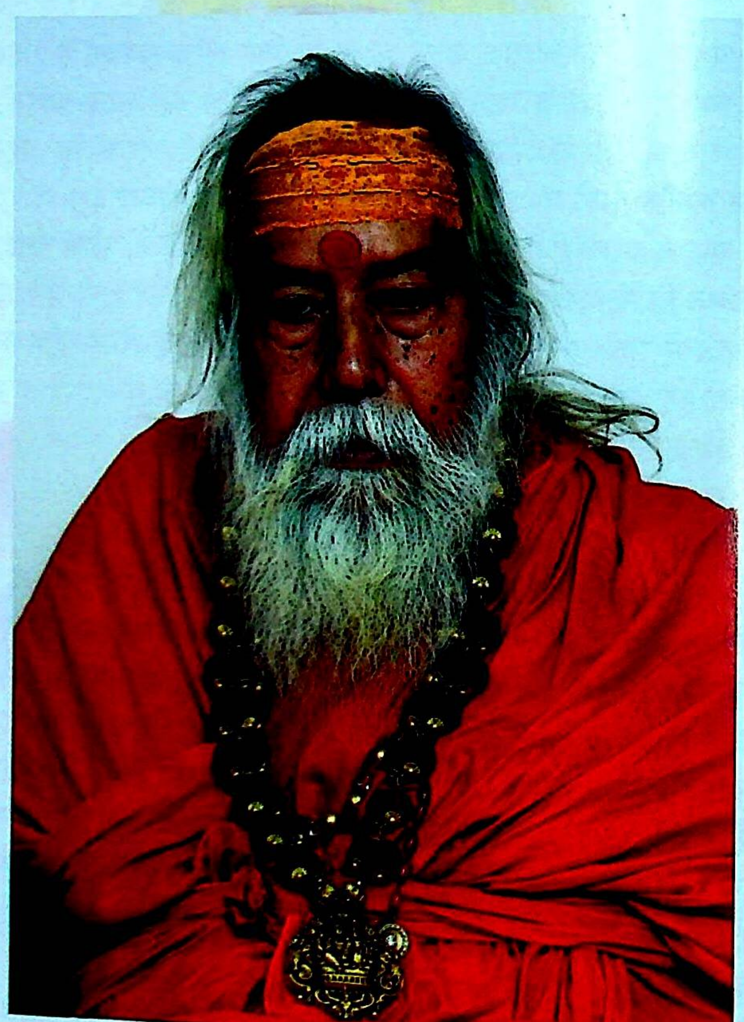
एक ब्राह्मण गरीबी में थे लेकिन दान लेना नहीं चाहते थे, सोचा चोरी कर लें लेकिन किसी धनवान् के घर में, जिससे उसको फर्क न पड़े । सो चले, राजा के महल में सेंध लगाई । अन्दर घुसे । राजा के सोने के कमरें में पहुँच गये । राजा सो रहा था । राजा नींद में ही यह श्लोक बड़बड़ा रहा था-

चेतो हरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः ।
सहबान्धवाः प्रणतिनम्रगिरश्च भृत्याः ।
गर्जन्ति दन्तिनिवहाः तरलास्तुरंगा ।

इसका अर्थ है कि मेरे महल में चित्त का हरण करने वाली सुन्दर नारियाँ हैं। मेरे अच्छे मित्र हैं, बान्धव जन भी हितैषी हैं तथा मेरा ऐश्वर्य अपरिमित है । यह तीन चरण बना पाया और तीनों दीवार पर लिख कर सो गया, सोचा अब आगे का चरण सबेरे बनाएँगे । पण्डित जी ने देखा तो आगे की लाईन **"उन्मीलने नयनयोर्नहिकिञ्चिदस्ति ।"** अर्थात् मृत्यु के समीप आने पर कुछ काम नहीं आएँगे । और चोरी करने चले। जो चीज उठाते, शास्त्र याद आता कि इस वस्तु की चोरी से यह पाप है, यह वस्तु चुराने से यह पाप होगा। सो अपनी गाय के लिए गोशाला में गया और अपने दुपट्टे में भूसा बांध लिया । और अपने घर पहुँच गया। लेकिन दुपट्टा फटा था सो भूसे की लाईन पण्डित जी के घर तक बन गई और पण्डित जी सबेरे पकड़े गये।

इधर राजा उठने पर अधूरा श्लोक पूरा करने चला तो देखा कि वह तो पूरा हो गया है । वह उस लाईन से प्रभावित हुआ । मध्याह्न दरबार में चोरी के जुर्म में पण्डित जी को पाकर उनसे मांफी मांगी और अपना सारा धन योग्य व्यक्तियों को दान में दे दिया ।

इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति को विधि-निषेध का ज्ञान होना चाहिए और तदनुसार आचरण से सदैव लाभ होता है ।



"मानव जीवन काल से कालान्तर की यात्रा"

जो वस्तु अनेकों उपकरणों से निर्मित होती है, वह अपने से विलक्षण किसी एक के लिए होती है। जैसे शय्या और भवन अनेकों उपकरणों से बनने के कारण सङ्घात कहलाते हैं। ये किसी शयन करने वाले या भवन के स्वामी के लिये होते हैं। "सङ्घतस्य परार्थत्वात् शय्या-प्रासादादिवत्" यह एक सिद्धान्त है। इसके अनुसार शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकार इनका संघात ही शरीर है। ये सब जड़ हैं और किसी चेतन के लिए हैं, वह चेतन अनादि, अनन्त है। उसके लिये अगणित शरीर निर्मित हुए और काल पाकर बिखर गये। उस शृङ्खला में मानव शरीर की उपलब्धि जीव का उत्तम पड़ाव है, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक रहता है। इस अवधि में चेतना आत्मा जो ईश्वर का अंश है, श्रोत्र, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और त्वक् इन पाँचों और छठवें मन के द्वारा विषयों का सेवन करता है और जब इस शरीर को छोड़ता है तो जैसे पवन बगीचे की सुगन्ध लेकर चला जाता है, इसी प्रकार इनको लेकर जीव स्थूलशरीर से निकल जाता है। निकल कर जैसा कर्म और उपासना होती है, उसके अनुसार उपयुक्त भोगों के लिए अन्य शरीर का ग्रहण करता है। इस प्रकार विचार करके देखा जाय तो जीवात्मा का यह पड़ाव काल से कालान्तर की यात्रा है; जो परलोक गमन देश से देशान्तर की यात्रा का हेतु बनती है। इस काल से कालान्तर की यात्रा के मध्य ही मनुष्य अनेकों देशों से देशान्तर रूपी गमनयात्रा करता है, ये सब सोद्देश्य होते हैं। जिन प्राणियों में थोड़ा भी चेतना का विकास होता है, उनकी यात्रा भी सोद्देश्य होती है। पशु-पक्षी अपने स्थान से आहार की खोज में निकलते हैं, उनके जीवन का उद्देश्य खाना-पीना, डरना-मरना और संतान उत्पन्न करना ही है। मनुष्य इससे आगे बढ़ता है, वह शरीर धारण के पूर्व एवं शरीर अंत के पश्चात् के संबंध पर सोचता है। पूर्व शरीर ग्रहण से शिक्षा लेकर शरीर के पश्चात् हमें किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्या करना है इस पर विचार करता है। कुछ दार्शनिक शरीर के पश्चात् भी आत्मा रहता है और मृत्यु के पश्चात् वह कैसे सुखी रह सकेगा इस पर अपने धर्मशास्त्रों

के आधार पर जानकारी प्राप्त करके उद्यम करते हैं और कुछ विशिष्ट जिज्ञासु वह आत्मा क्या है ? इसकी जिज्ञासा करते हैं । कठोपनिषद् के नाचिकेतोपाख्यान में नचिकेता ने यमराज से तीसरे वरदान के रूप में यही पूछा था । मृत्यु के पश्चात् प्राणी यमलोक में जाता है, यह उसे प्रत्यक्ष ही था, वह यमराज से उसके याथात्म्य को जानना चाहता था । इस पर यमराज ने कहा कि इस संबंध में देवता भी संशय में पड़ गये थे । यह सूक्ष्म धर्म है, तुम सैकड़ों वर्ष की आयु वाले पुत्र पौत्र मांग लो, पर यह न पूछो। नचिकेता ने इन सबसे प्रलुब्ध न होते हुये उसी प्रश्न का उत्तर मांगा, जिस पर यमराज ने श्रेय व प्रेय का विवेचन करते हुए कहा कि सांसारिक भोगों का संग्रह व रक्षण प्रेय है, जबकि आत्मज्ञान से प्राप्त होने वाला श्रेय है और फिर यमराज ने नचिकेता को अध्यात्म-तत्त्व का ज्ञान कराया ।

एक दृष्टान्त है- कोई एक राजा था । उसने बहुत बड़ी भूमि को दीवार से घेरकर उसके भीतर एक दिव्य बगीचे का निर्माण किया । बगीचे के भीतर पानी की नहरें, सरसी-सरोबर, कमल-कमलिनी, रंग-बिरंगी मछलियाँ, सुन्दर पक्षी, पुष्पित-फलित वृक्ष, लता-निकुंज, मनोरम चौपायत और उसमें रहने के लिये सुन्दर आवास-स्थान बनवाये । राजा ने दूर-दूर तक यह घोषणा करवा दी कि कोई मुझे अमुक तिथि में सबेरे से लेकर सांझ तक इस बगीचे के भीतर ढूंढ़ लेगा तो मैं उसको इस बगीचे के सहित पूरा राज्य एवं अपनी एकमात्र कन्या प्रदान कर दूंगा । राजा की घोषणानुसार घोषित तिथि के पहले ही सहस्रों व्यक्ति उस बगीचे के दरवाजे पर खड़े हो गये । दूसरे दिन जैसे ही फाटक खुला, लोग राजा को ढूंढ़ कर राज्य पाने के लोभ से बगीचे में प्रविष्ट हुए, पर वह बगीचा इतना मनोरम था कि जहां जिसकी दृष्टि पड़ी, वह वहीं रह गया। कोई कोयल की मधुर कुहू-कुहू सुनने लगा, कोई रंग-बिरंगी मछलियां देखने लगा, कोई फूलों की सुगंध लेने लगा कोई फलों का स्वाद लेने लगा और कोई निकुंज में विश्राम करने लगा । जब किसी ने स्मरण दिलाया कि राजा को खोजना है तो लोग कहने लगे अभी दिन पड़ा है, अभी आनन्द ले लें, राजा को बाद में खोज लेंगे । उनमें से एक व्यक्ति ऐसा था, जिसने सोचा कि पहले राजा को खोज लेना चाहिए फिर तो बगीचा अपना ही होगा और वह राजा को खोजने में सफल हो गया । फलतः राजा की घोषणा के अनुसार उसका राजकन्या से विवाह हो गया और वह पूरे राज्य का राजा हो गया । इस का अर्थ है- परमात्मा राजा है, संसार

उसका बगीचा, मुक्ति राजकन्या, सबेरा जन्म और मृत्यु सांझ है । जीव इस बगीचे में आते हैं और अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भूलकर बगीचे की शोभा निहारने में रम जाते हैं । कोई एक बुद्धिमान् पुरुष अपने जीवन के चरम लक्ष्य को सामने रखकर बगीचे का प्रलोभन छोड़कर लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हो जाता है । इससे हमें शिक्षा मिलती है कि हम सदा अपने लक्ष्य को सामने रखें और देखते रहें कि हम किधर जा रहे हैं । उपनिषदों में लिखा है– '**आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यन्ति केचन**' अर्थात् उसके बगीचे को तो लोग देखते हैं किन्तु उसकी ओर नहीं देखते । अपने लक्ष्य की ओर हम कितने आगे जा सकें इसका ज्ञान अपने अन्तःकरण का निरीक्षण करके प्राप्त किया जा सकता है ।

आध्यात्मिक उन्नति की चार विधायें हैं । (१) निष्कामकर्म (२) भक्तियोग (३) योग (४) ज्ञान। इनमें वही अग्रसर हो सकता है, जिसके अन्तःकरण में सत्त्वगुण का उत्कर्ष हो । हमारा अन्तःकरण त्रिगुणात्मक प्रकृति से बना हुआ है। प्रकृति के तीन गुण हैं – सत्त्व, रज, तम । भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।

सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ एवं तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होता है । इसके लिये तमोगुण और रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण को बढ़ाना आवश्यक है । तमोगुण को रजोगुण से रजोगुण को सत्त्वगुण से दबा कर शुद्धसत्त्व में स्थित होकर अन्त में उसको भी छोड़कर परमात्मा की प्राप्ति की जा सकती है । इसके लिए प्रमाद, मोह और अज्ञान का निरालस्य होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए त्याग करना चाहिये । भगवद्भक्ति को बढ़ाने के लिये भगवद्भक्तों का संग, आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और सात्त्विक आहार करके रजोगुण को जीतना चाहिये और तत्त्वविचार से सत्त्वगुण से ऊपर उठकर शुद्ध ब्रह्मात्मैक्यनिष्ठा प्राप्त करनी चाहिये । आध्यात्मिक लक्ष्य से ही समाज में नैतिकता, सुव्यवस्था एवं सदाचार की वृद्धि हो सकती है । सामान्य लोग केवल दूसरों का ही अनुकरण कर रहे हैं, अपनी दृष्टि से अपने बारे में नहीं सोच रहे हैं । अतः कुछ समय एकान्त में रहकर अपने सम्बन्ध में विचार करना चाहिये। जीव का सांसारिक बंधन जड़ व चेतन की ग्रन्थि है । जड़-शरीर से चेतन-आत्मा का पृथक्करण ही मुक्ति का साधन है ।

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो

गोस्वामी तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका में भगवान् श्रीराम के आगे अपना मनोरथ प्रकट करते हुए कहा - **कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो** - इसका अर्थ है मैं कब ऐसी रहनी रहूँगा। रहनी की माँग भगवान् श्रीराम से शतरूपा ने भी की थी-

जो निज भगत नाथ तव अहहिं।
जो सुख पावहिं जो गति लहहिं ।।
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिवेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ।।

यहाँ भी वे किसी रहनी की याचना करती हुई दिखायी पड़ती हैं। संत कबीर ने सहज समाधि को रहनी शब्द से विहित किया है-

कह कबीर यह उन्मनि रहनि, सो परगट कर गाइ।
दुःख सुख से कोई परे परम पद, सब घट रहा समाइ ।।

वेदों, उपनिषदों, भगवद्गीता, रामायण, महाभारत और तुलसी कृत रामायण में संतों की जीवन प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए उसी को आदर्श माना है। एक बार सूक्ष्म दृष्टि से हम इस संसार से लेकर ब्रह्मलोक तक विचार करके देखें तो हमें सर्वत्र सुख-दुःख का तारतम्य दिखाई पड़ेगा। तारतम्य का अर्थ है तरतम का भाव। कहीं कम कहीं ज्यादा, इसलिये यहाँ के प्राणी दुःख से बचने और सुख को प्राप्त करने के लिये सदा सचेष्ट रहते हैं। पशु-पक्षी भी यही कहते हुए देखे जा सकते हैं। यदि कोई गरजते हुए डण्डा लेकर दौड़ता है तो पशु भागता है और हरी दूब लेकर आगे आता है तो उसको खाने के लिए पास में आ जाता है। बहेलिये के शरीर की गंध के कारण उसके वन में आते ही पशु-पक्षी भाग जाते हैं और वहाँ के अहिंसक महात्माओं के पास निर्भय विचरण करते हैं। मनुष्य भी समस्त जीवन में यही करता रहता है। जीवन भर दुःख से बचने और सुख के साधन जुटाने में लगा रहता है। मानव-जीवन में आकर उसकी सुख-दुःख की अनुभूति उसके मन के राग-द्वेष के अनुसार और भी गहरी हो जाती है। शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति मान-अपमान, लाभ-अलाभ के आधार पर भी उसकी सुख-दुःख की परिभाषा उसकी संवेदना को बढ़ा देती है। मनुष्य सुख

चाहता है पर उसकी सुखोपलब्धि एक सीमा तक आकर रुक जाती है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में सुख के तारतम्य के सन्दर्भ में विभिन्न श्रेणियां वर्णित हैं यथा-

युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

साधु- युवा, [illegible] पठित, आशिष्ठ, दृढिष्ठ, बलिष्ठ, चक्रवर्ती राजा का आनन्द एक मनुष्य का आनन्द है । उस मानुष आनन्द से सौ गुना अधिक मनुष्यगन्धर्व का आनन्द होता है और वह कामना रहित श्रोत्रिय को भी प्राप्त है । उससे सौ गुना अधिक देवगंधर्व का, उससे सौ गुना अधिक कर्मदेवताओं एवं आजानजदेवताओं का होता है, देवताओं से भी सौगुना अधिक इन्द्र का सुख होता है । इन्द्र से सौ गुना अधिक सुख बृहस्पति का, बृहस्पति से सौ गुना अधिक ब्रह्मलोक के निवासियों का सुख होता है और उनसे भी सौ गुना अधिक ब्रह्मा का सुख होता है किन्तु ब्रह्मा का भी सुख निर्मृष्टनिखिलदुःखनिरतिशयानन्द रूप नहीं होता । सरल शब्दों में यह कहें, सब जगह छोटे-बड़े हैं, सब जगह विषमता के आधार पर सुख-दुःख का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है । मनुष्यलोक में नवीनकर्म किये जा सकते हैं क्योंकि दुःख का थप्पड़ लगने से मनुष्य चैतन्य होकर कुछ नवीन सत्कर्म करता है और निरतिशय आनन्द तक पहुँच भी जाता है किन्तु परलोक में जब तक पुण्यों का क्षय नहीं हो जाता एवं देवशरीर छूट नहीं जाता तब तक उसको इस बात का पश्चात्ताप होता रहता है कि मैंने बुरे कर्म क्यों किये ? अच्छे कर्म क्यों नहीं किये ? क्योंकि परलोक में भी उसे यावज्जीवन अपने से अधिक सुखी दिखायी पड़ते हैं, जिनकी उच्चता एवं अपनी हीनता को देख- देखकर वह जलता रहता है । इसका तात्पर्य है देवता भले ही मनुष्यों से अधिक सुखी हों पर उनका भोगप्रधान-जीवन हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता । हमें तो संतों जैसा जीवन चाहिए, उनकी जैसी रहनी चाहिये, यह तभी संभव होगा जब हमारे भीतर समता का भाव आयेगा ।

समलोष्टाश्मकाञ्चनः सब प्राणियों में समता, सब प्रकार के मनुष्यों में

समता, जय-पराजय में समता, हानि-लाभ में समता, सुख-दुःख में समता, निन्दा-स्तुति एवं मान-अपमान में समता का जीवन हम अपनाएँ । हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्र सम्मत हो अर्थात् क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये यह विवेक जीवन में हो । प्राणिमात्र में परमेश्वर का दर्शन, सबसे निश्छल प्रेम, सबको सुख पहुँचाना और सबके सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझना एवं किसी भी परिस्थिति में संत स्वभाव का त्याग न करना, यही रहनी का अर्थ है ।

स्पष्ट जीवन-दर्शन के अभाव के कारण मनुष्य उचित अनुचित का विचार छोड़ रहा है । हिंसा बढ़ रही है, निरपराध मारे जा रहे हैं एवं सज्जनता उपहास का पात्र बन रही है । साथ ही कुछ लोग साधुता को पलायनवाद मानकर शठं प्रति शाठ्यम् का नारा बुलन्द कर रहे हैं, किन्तु बुराई से बुराई को दूर नहीं किया जा सकता है । हममें इतना मनोबल होना चाहिये कि हम बुराई का प्रतिवाद कर सकें एवं दीन-दुःखियों की रक्षा के लिये आगे बढ़ सकें । इस सम्बन्ध में गृध्रराज जटायु को दृष्टान्त के रूप में लिया जा सकता है जिसने परनारी के हरण को रोकने के लिए अपने प्राण को हथेली में डालकर रावण के अत्याचार का विरोध किया, यह सराहनीय है किन्तु अन्याय, अत्याचार में मूकदर्शक बनना या अत्याचारियों के साथ जुड़ जाना मानवता के विरुद्ध है । राजनीति के क्षेत्र में भी सज्जनों को आगे आना चाहिये । उदार हृदय लेकर संतान के कल्याण के प्रति माता-पिता जैसा वात्सल्य पूरित हृदय लेकर और अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा-भक्तियुक्त होकर जनता के बीच में जाना चाहिये, यह सामाजिक रहनी का संक्षिप्त स्वरूप है । -

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ।
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछू न चहौंगो ।।
पर हित निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेत्र निबहौंगो ।
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि, तेहि पावक न दहौंगो ।।
बिगत मान, सम शीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो ।
परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।।

तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि भगति लहौंगो ।

भावार्थ- क्या मैं कभी इस रहनी से रहूँगा ? क्या कृपालु श्री रघुनाथ जी की कृपा से कभी मैं सन्तों का सा स्वभाव ग्रहण करूँगा । जो कुछ मिल जाएगा, उसी में सन्तुष्ट रहूँगा । किसी से कुछ भी नहीं चाहूँगा। मन, वचन और कर्म से यम-नियमों का पालन करूँगा । कानों से अति कठोर और असह्य वचन सुनकर भी उससे उत्पन्न हुई आग में न जलूँगा । अभिमान छोड़कर सब में समबुद्धि वाला रहूँगा और मन को शान्त रखूँगा। दूसरों की स्तुति-निन्दा कुछ भी नहीं करूँगा । शरीर-सम्बन्ध चिन्ताएँ छोड़कर सुख और दुःख को समान भाव से सहूँगा । हे नाथ ! क्या तुलसीदास इस (उपर्युक्त) मार्ग पर रहकर कभी अविचल हरिभक्ति को प्राप्त करेगा ?



मानव जीवन की पूर्णता चारों पुरुषार्थों के समन्वय में है

मनुष्य शरीर को परमात्मा की सर्वोत्तम कृति माना जाता है क्योंकि चौरासी लाख योनियों में भटकता-भटकता जीव मानवशरीर में आकर चतुर्विध पुरुषार्थ का सम्पादन करने में समर्थ होता है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष को ही पुरुषार्थ माना जाता है। जीवन के उद्देश्य की पूर्णता किसमें है, इस पर ध्यान न दिया जाय तो जन्म कर्म के प्रवाह से मुक्ति नहीं मिल सकेगी। मनुष्य कर्म करता है और उसका फल भोगने के लिए जन्म लेता है और जन्म लेकर पुनः कर्म करता है। अनादि काल से यह शृङ्खला चली आ रही है। परमेश्वर ने जीव को पूर्णकाम बनाने के लिए उसको बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राण प्रदान किये हैं। जिनसे वह इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानते हुए मन से शुभसङ्कल्प कर बुद्धि से परलोक सुधारने के लिए सत्कर्म कर सकता है और वेदान्त के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। पुरुषार्थ का अर्थ होता है, पुरुष का प्रयोजन। इसमें पहला है- अर्थ- अर्थात् धन की प्राप्ति है। प्रायः मनुष्य अपने जीविकोपार्जन के साथ साथ इसीलिये धर्म करता है, जिससे उसको धन की प्राप्ति हो जाय और फिर धन के द्वारा वह सांसारिक भोग भोगता है। दूसरा प्रकार है काम- इसमें कुछ बुद्धिमान पुरुष इस बात पर ध्यान देते हैं कि वर्तमान जीवन के पश्चात् भी जीवन है और इस शरीर के मृत होने पर भी आत्मा की मृत्यु नहीं होती। यहाँ की सम्पत्ति मृत्यु के पश्चात् साथ नहीं जायेगी अतः धर्माचरण करके पुण्य अर्जित करना चाहिये, वही परलोक में सहायक होगा। इसीलिये धर्म के पश्चात् सुख प्राप्ति के लिए शास्त्र में बतलाये गये मार्ग पर चलने पर मरणोत्तर भी जीवन है, जिसका ध्यान इस तथ्य पर नहीं जाता है, वे जीवन में काम्य-विषय भोग के लिए लगे रहते हैं। विरले ही पुरुष निष्काम कर्म से अपने चित्त को निर्मल बनाकर जन्म कर्म के प्रवाह से मुक्त होने के लिए सद्गुरु की शरण में आकर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। **ज्ञानादेव तु कैवल्यम्** वस्तुतः उसी का जीवन पूर्ण माना जाता है, जिसके जीवन में इन चारों का समन्वय होता है। अर्थ की तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती पर मरण-

पर्यन्त कुछ लोग इसी में लगे रह जाते हैं । कुछ लोग इस जीवन की उपेक्षा करके परलोक की ही चिन्ता में लगे रहते हैं । आजकल कुछ लोग धर्म में लगे रहने पर लौकिक उन्नति में बाधा मानते हैं । कुछ लोग तो यह तक कहने का साहस करते हैं कि आद्य शङ्कराचार्य जी का सिद्धांत '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' भारत की अवनति का कारण है ।

पर वे यह भूल जाते हैं कि यही लोक सब कुछ नहीं है । वे अपने सुख के लिए चाहे जिस उपाय का सहारा लेते हैं । आजकल जो धन की छीना-झपटी, हिंसा, दुराचार, सामाजिक अनुशासन हीनता फैल रही है, इसका कारण आध्यात्मिक उन्नति के लिए धर्मपरायण न होना ही है । भगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी ने अपने अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए यह बतलाया है कि सच्चा सुख अपने भीतर है । आत्मा ब्रह्म से लेकर चीटीं तक सभी में एक है । जैसे माला की मनियां भले ही पृथक् हों परन्तु वे एक सूत्र में बंधी होती हैं । इसी प्रकार सभी में एक ही आत्मा है , इस दर्शन से घृणा व द्वेष दूर होते हैं और अपने भोग के लिए दूसरों को कष्ट देना बंद होता है । श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि –

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।

धर्म का फल है मोक्ष, उसकी सार्थकता धनप्राप्ति के लिए नहीं । अर्थ केवल धर्म के लिए है, भोगविलास उसका फल नहीं । भोग विलास भी इन्द्रिय तृप्ति के लिए नहीं अपितु जीवन निर्वाह के लिए है। जीवन का फल भी तत्त्वजिज्ञासा है, बहुत कर्म करके स्वर्ग जाना नहीं । शास्त्रों में बतलाया गया है कि अपनी आय के पांच विभाग करना चाहिए । प्रथम भाग धर्म के लिए, द्वितीय भाग यश के लिए, तृतीय भाग मूलधन की रक्षा के लिए सुरक्षित, चतुर्थ भाग अपने लिए, पंचम भाग अपने आश्रितों के लिए और स्वजनों के लिए, इस प्रकार जो व्यक्ति अपनी आय का पांच कार्यों में विभाजन करता है, वह इस लोक व परलोक दोनों में आनन्द करता है । काम्य विषय भोग से जो सुख मिलता है, वह काम कहलाता है । इसमें इन्द्रियों की तृप्ति कभी नहीं होती।

अग्नि में घी डालने पर जैसे अग्नि शांत न होकर और बढ़ती है, इसी प्रकार तृष्णा बढ़ती ही जाती है । वृद्धावस्था में जब इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं तब तृष्णा दुःखद हो जाती है । इसलिए काम का उपयोग इन्द्रिय तृप्ति न होकर जीवन धारण होना चाहिए । स्वस्थ जीवन के लिए पथ्य सेवन और आत्म संयम की उपयोगिता आजकल के डॉक्टर भी बतलाते हैं, जो अध्यात्म-परायण व्यक्ति ही कर सकता है। जीवन का उद्देश्य तत्त्व-जिज्ञासा होना चाहिए । तत्त्व जिज्ञासा उसी को होती है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण की शुद्धि भी एक उपलब्धि है । शरीर का मैल स्नान से दूर होता है, कपड़ों का मैल साबुन से दूर होता है एवं मन का मैल निष्काम भाव से किये गये कर्म से दूर होता है । मन की निर्मलता भी एक उपलब्धि है । निर्मल मन से सात्विक सुख की प्राप्ति होती है । जाड़े के दिनों में लोग बिस्तर में रजाई लिपटे हुए रात्रि बीत जाने पर भी पड़े रहते हैं । और कुछ लोग शीत पड़ने पर कुम्भ मेले में कम्बल लेकर निकलते हैं, फुटपाथ पर रहने वालों को कंबल देकर चले जाते हैं, ऐसे व्यक्तियों को जो सुख मिलता है, वह सात्विक सुख है । इस सुख की तुलना रजाई से लिपटकर सूर्योदय पश्चात् तक पड़े रहने वाले के सुख से करने पर समझ में आ जाता है कि सच्चा सुख वह नहीं है । प्रातः काल उठकर ठिठुरते हुए गङ्गा में गोता लगाने पर जो सुख मिलता है, वह एक विलक्षण ही सुख है । भगवद्गीता में सुख के तीन भेद किये गये हैं । सात्विक, राजस, तामस । वहां बतलाया गया है कि जो पहिले विष के समान व परिणाम में अमृत के समान है, जो अन्तःकरण की अंतर्मुखता एवं स्वच्छता से प्राप्त होता है, सात्विक सुख कहलाता है । विषय, इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होने वाला जो पहले अमृत के समान परिणाम में विष के समान है, राजस सुख है । एवं निद्रा एवं आलस्य-प्रमाद में जो सुख मिलता है, वह तामसिक सुख कहलाता है । सात्विक सुख आत्मज्ञान से मिलने वाले अनन्त सुख की एक झलक मात्र है । इसके अतिरिक्त एक सुख भक्ति का भी है, जो भगवान् के प्रति परमप्रेम से प्राप्त होता है । इसके संबंध में श्रीमद्भागवत में कहा गया है- जो आनन्द आपके चरण कमलों के ध्यान तथा आपके भक्तों के मुखकमल से निःसृत भागवत कथा के श्रवण से मिलता है, वह सुख मोक्ष में भी नहीं है। देवताओं

को भी वह सुख प्राप्त नहीं है । परमेश्वर ने मानव शरीर का निर्माण करके जो क्षमताएँ उसमें भरी हैं, उनमें परमात्मा को जानने में समर्थ बुद्धि है । उपनिषदों में बताया गया है कि ब्रह्मलोक में ब्रह्म, धूप व छाया के समान दिखलाई पड़ता है । उससे नीचे के लोकों में चंचल व मलिन सरोवर में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के जैसा प्रतीत होता है । उससे नीचे के लोकों में स्वप्न के समान अस्थिर ब्रह्म का दर्शन होता है । किन्तु मानव शरीर में जैसे दर्पण में स्पष्ट रूप से मुख दिखलाई पड़ता है, इस तरह ब्रह्म का दर्शन होता है । इसलिये इस क्षमताओं को देखते हुए इसका उपयोग करना चाहिये । उपरिलिखित चारों पुरुषार्थों में समन्वय स्थापित करना चाहिए ।



शास्त्रानुमोदित मार्ग का ही अनुसरण करें

हमारे सनातन-धर्म में शास्त्रों के अनुसार चार प्रकार से उत्पन्न होने वाली चौरासी लाख योनियाँ कही गई हैं। इन शरीरों की उत्पत्ति अंडों से, मां के उदर से, पसीन से और पृथ्वी का भेदन कर निकलने वाले वृक्षों के रूप में होती है। यह भी माना गया है कि इन शरीरों का शरीरी अर्थात् आत्मा का नाश नहीं होता। किन्तु शरीरधारी जीव अज्ञान के कारण शरीर के जन्म और नाश को अपना मान लेता है। आत्मा जिसको जीव शब्द से भी कहा जाता है। वह काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के घेरे में घिरा हुआ इन चौरासी लाख योनियों में जाता है उन योनियों में मनुष्य-योनि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। मनुष्य-योनि की श्रेष्ठता का कारण यह है कि यह कर्मयोनि है जबकि अन्य योनियाँ भोग योनियाँ मानी जाती हैं। मनुष्य योनि पाकर जीव धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्भागवत के एकादश-स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को समझाते हुए कहा है कि- विश्वसृष्टा ईश्वर ने अनेकों प्रकार के शरीरों का निर्माण किया। वृक्षों, सरीसृपों, भागने वाले चौपाया पशुओं, उड़ने वाले पक्षियों और तैरने वाले जल जन्तुओं को उन्होंने बनया किन्तु इससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, तब अंत में उन्होंने मनुष्य बनाया और देखा कि मनुष्य -शरीर के भीतर ऐसी बुद्धि है, जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है तो उनको आनन्द का अनुभव हुआ। उन्होंने कहा 'सुकृतम्' अर्थात् मैंने अच्छा किया। यथा-

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥

पुराणों के अनुसार हमारे इस ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन हैं, जिसमें सबसे ऊपर ब्रह्मलोक है। उपनिषद् कहते हैं -

यथाऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥

कठोपनिषद् के इस वाक्य के अनुसार आत्मदर्शन भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है । पितृलोक में स्वप्न के स्मरण जैसी अस्पष्ट, गन्धर्वलोक में पानी में अपनी आकृति जैसा तथा सर्वोत्तम ब्रह्मलोक में ब्रह्मदर्शन धूप और छाया के समान होता है । परन्तु मर्त्यलोक में मानवशरीर से यह निर्मल दर्पण में जैसे हम अपना मुख देख सकते हैं, उतनी स्पष्टता से होता है । इसलिये मानव शरीर की उपलब्धि को ईश्वर की कृपा माना जाता है । इससे प्राप्त होने वाले पुरुषार्थों में धर्म मुख्य है । क्योंकि अर्थ और काम पूर्वकृत कर्मों से जो प्रारब्ध बनता है, उसके अनुसार प्राप्त होते हैं पर धर्म और मोक्ष उसके अपने प्रयत्न से होते हैं। धर्म का ज्ञान हमें शास्त्रों से ही होता है क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान से धर्माधर्म का ज्ञान नहीं होता है । धर्म से दो लाभ होते हैं, एक तो जब जीव इस शरीर से निकल कर परलोकगमन करता है तो उसके साथ धर्म के अलावा यहाँ से कुछ भी नहीं जाता । यथा –

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।

परलोक में मनुष्य का किया हुआ धर्म ही उसकी सहायता करता है । शरीर की आयु अत्यन्त सीमित है । यद्यपि इसकी परमायु सौ वर्ष की मानी जाती है पर सौ वर्ष का जीवन विरले ही प्राप्त कर पाते हैं । देखते ही देखते बाल्यावस्था, युवावस्था को पार करके व्यक्ति वृद्धावस्था का अनुभव करके मरणोन्मुख हो जाता है । मृत्यु कब सामने आकर खड़ी हो गई, इसका पता ही नहीं चलता । इसलिए कुछ बुद्धिमान् लोग अपने जीवन में संसार के सुख-दुःख भोगते हुए परलोक सुधारने के लिए धर्माचरण करते रहते हैं । उनके द्वारा अनुष्ठित वह धर्म निष्कामभाव से अनुष्ठित किया जाये और उसका फल भगवान् को समर्पित कर दिया जाये तो वह अन्तःकरण को निर्मल बनाते हुए हमारे मोक्ष में सहायक हो जाता है ।

जो धर्म कामनारहित होकर अनुष्ठित होता है और जिसका फल ईश्वर को समर्पित हो जाता है, वह भगवान् की पूजा माना जाता है । भगवद्गीता में कहा गया है – जिससे प्राणियों की उत्पत्ति होती है और जो सर्वव्यापी है, उस परमात्मा की अपने स्वधर्म से पूजा करके प्राणी सिद्धि प्राप्त कर लेता है । यहाँ

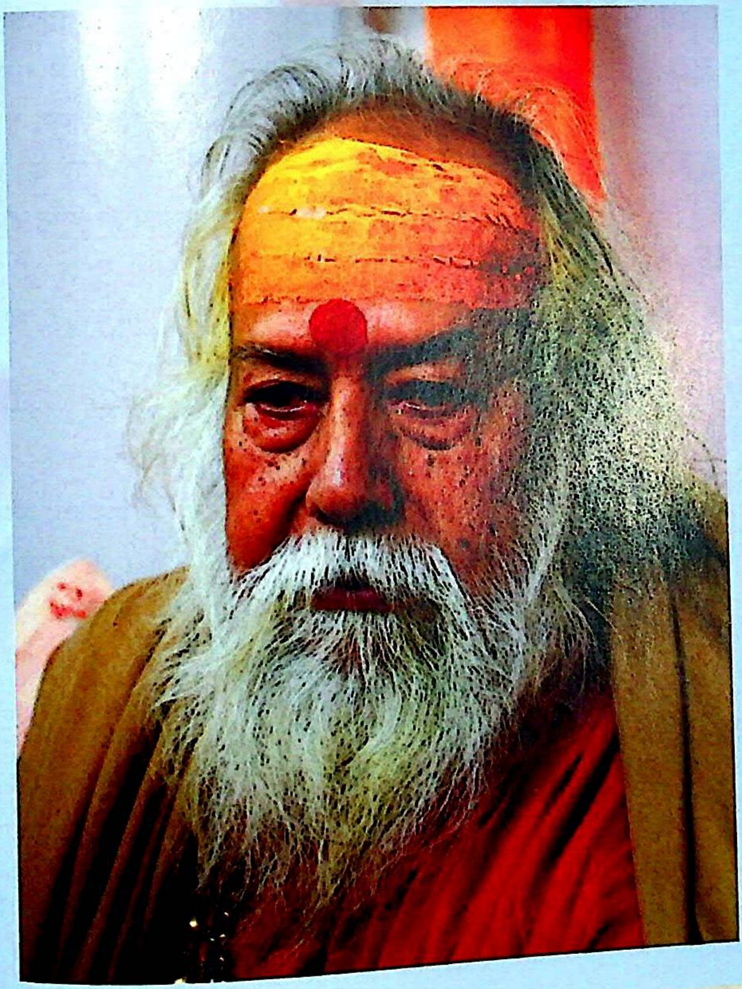
सिद्धि का अर्थ चित्त की शुद्धि है। जिसका हृदय शुद्ध हो जाता है, वह भगवान् की आराधना में लग जाता है। और जैसे क्षुधार्त्त मनुष्य भोजन करता है तो उसे प्रत्येक ग्रास से तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति एक साथ ही हो जाती है, उसी प्रकार भक्त भगवान् के चरणों में अनुरक्ति, परमेश्वर का अनुभव और भोगों से विरक्ति आदि एक साथ ही हो जाते हैं।

सनातन धर्म में जिनकी आस्था है, जिनका जन्म धार्मिक कुल में हुआ है और भारतभूमि के पवित्र क्षेत्रों, गङ्गादि नदियों और तीर्थों का जो सेवन करते हैं, उनके हृदय में धार्मिक भावनाओं का उदय होता है, पर उचित मार्गदर्शन के अभाव में बहुत से लोग भटक भी जाते हैं। पुण्य और पाप का ज्ञान, धर्माधर्म का ज्ञान एवं भगवान् के स्वरूप का ज्ञान शास्त्रों से ही होता है। भगवान् के सगुण अवतार शास्त्रों में वर्णित है पर कुछ लोग अपने मन से ही धर्म की कल्पना कर लेते हैं और नये-नये देवताओं का सृजन करके उनकी पूजा में अपना समय नष्ट कर देते हैं। मुख्य रूप से सांसारिक समस्याओं की पूर्ति के लिए ही वे लोग ऐसा करते हैं। वस्तुतः कर्मों का फल कर्म नहीं दे सकते अपितु ईश्वर देता है और ईश्वर की आज्ञा हमारे शास्त्र हैं। इसलिए शुभाशुभ कर्मों के सम्बन्ध में हमें शास्त्रों का उल्लंघन न करके उनका अनुसरण करना चाहिए।

भगवान् आदि शङ्कराचार्य जी ने एक निर्गुण-निराकार ब्रह्म और पाँच सगुण साकार (जिनमें शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु एवं सूर्य आते हैं) इन छः रूपों में ईश्वर की आराधना का निरूपण किया है। भक्तों की रुचि और उनकी आराधना शक्ति के भेद के कारण ही एक परमात्मा अनेक रूपों में अवतार धारण करते हैं। भगवान् के किसी एक रूप की आराधना का तात्पर्य यह नहीं कि हम किसी और रूप की निन्दा करें क्योंकि ये पाँचों भगवान् के ही रूप हैं। शिव के भी एकादश रूप हैं। शक्ति भी दस महाविद्या व नवदुर्गा के रूप में प्रकट हुई हैं। सूर्य द्वादश हैं। अष्ट-गणेश हैं और भगवान् विष्णु के चौबीस अवतार हैं, जिनमें राम, कृष्ण प्रमुख हैं। सनातन धर्मावलंबियों को इन्हीं की आराधना करनी चाहिए। इस समय सनातन धर्म से विमुख करके लोगों को भ्रमित करने के लिए अनेकों मत-मतान्तर व तथाकथित गुरु प्रकट हो गये हैं, जिनसे सनतान धर्मियों को बचना चाहिये और अपने पूर्वजों के द्वारा अनुष्ठित,

पोषित सनातन धर्म का ही श्रद्धापूर्वक पालन करना चाहिए।

रामचरितमानस में कथा आती है कि जब भरत जी प्रयाग गये और उन्होंने वहाँ के महामुनि भरद्वाज से चित्रकूट का मार्ग पूछा तो उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाया। उनके बुलाने पर पचासों शिष्य आ गये और कहने लगे कि हम भरत को मार्ग दिखायेंगे। मार्ग हमारा देखा हुआ है आदि। पर भरत जी ने उनमें से केवल चार शिष्यों अर्थात् चार वेदों का ही वरण किया। यह संकेत है कि प्रभु-प्राप्ति का मार्ग हमें चार वेद ही बता सकते हैं, अन्य मत-मतान्तर नहीं।



परमानन्द प्राप्ति ही सच्चा पुरुषार्थ है

हमारे शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों को पुरुषार्थ माना गया है। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है जो पुरुष के द्वारा अर्थित, प्रार्थित हो वह पुरुषार्थ है। वस्तुतः देखा जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुरुष के जीवन का लक्ष्य समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति है। वास्तव में परमानन्द की प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य है। समस्त दुःखों की निवृत्ति तो परमानन्द की प्राप्ति से अपने आप हो जाती है। इन चारों पुरुषार्थों पर विचार करें तो अर्थ, धर्म और काम ये तीनों साधन कोटि में आते हैं, इन तीनों के द्वारा साध्य सुख है। अर्थ और काम से लौकिक सुख की प्राप्ति होती है। इन्द्रिय और विषय संयोग से प्राप्त होने वाला सुख अर्थ और काम का साध्य है और धर्म वह अभीष्ट है, जिसको पुण्य कहा जाता है। पुण्य से स्वर्ग–सुख की प्राप्ति होती है। वह स्वर्ग–सुख भी इन्द्रियों और विषयों के संयोग से ही प्राप्त होता है। इन्द्रिय–विषयजन्य सुख अनित्य होता है और उसके साथ दुःख भी जुड़ा रहता है। मनुष्य का लक्ष्य वह सुख है, जो निरतिशय अर्थात् परिपूर्ण है, वस्तुतः वह सुख ही जीव का परम पुरुषार्थ है।

वेदान्त शास्त्र के अनुसार सुख अखण्ड है और वह आत्मा का स्वरूप है। यह देखा जाता है कि जिस पदार्थ और प्राणी में हमारा प्रेम होता है, उसके मिलने पर ही हमें सुख की अनुभूति होती है। अब हमारे सामने यह समस्या आती है कि प्रिय कौन है? किसी भी वस्तु में प्रियता आत्मा के सम्बन्ध से आती है। किसी माता के सामने किसी दूसरे के पुत्र की यदि कोई प्रशंसा करे तो वह पूछती है, क्या मेरे बेटे के बराबर सुन्दर है? इसका अर्थ है, बेटे की सुन्दरता अपने सम्बन्ध से है। धन में भी यदि किसी का प्रेम है तो अपने सम्बन्ध से है। श्रुति कहती है–

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥

इसका अर्थ है – सबके लिए सब प्रिय न होकर अपने लिए ही सब प्रिय होते हैं। आत्मा के सम्बन्ध से ही सबमें प्रियता आती है। जैसे मोतीचूर का

लड्डू सूखे चने के चूर्ण से बनता है और उस सूखे चने के चूर्ण में शक्कर के कारण मधुरता आती है । इसी प्रकार नीरस संसार में आत्मा के सम्बन्ध से सरसता आती है ।

इसलिये माना जाता है कि अन्य प्राणियों और पदार्थों में प्रेम सोपाधिक है पर आत्मा में प्रेम निरुपाधिक है । यह नियम है कि जहाँ सर्वाधिक प्रेम होता है, वहीं आनन्द का अनुभव होता है । आत्मा समस्त प्राणियों का परमप्रेमास्पद है, इसी कारण वह परमानन्दस्वरूप है । वस्तुतः परमानन्द या सुख आत्मा के ही समान परमप्रेमास्पद है क्योंकि सुख के लिए सब हैं पर सुख किसी और के लिए नहीं । जो लक्षण आत्मा का है, वही सुख का है । जो सुख इन्द्रिय और विषय के संयोग से प्राप्त होता है, वह न तो विषयों का है और न ही इन्द्रियों का है । वस्तुतः वस्तुस्थिति यह है कि जब हमारे मन में किसी वस्तु को पाने की प्रबल इच्छा होती है तब वह प्रबल इच्छा अन्य इच्छाओं को दबा देती है और वह जब तक पूर्ण न हो जाय तब तक काँटे जैसे चुभने लगती है । जब पूर्वकृत् पुण्यों के फलस्वरूप हमें अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है तो चित्त में प्रसन्नता आती है और इच्छा की समाप्ति हो जाती है तब निश्चल और निर्मल चित्त में परमानन्द स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी को हम आत्मसुख न समझ कर विषय सुख मान लेते हैं और उनके संग्रह में लग जाते हैं। सर्वदा सभी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं। अनुकूल विषय की प्राप्ति के साथ-साथ प्रतिकूल विषय भी प्राप्त होते हैं, इससे दुःख का भी अनुभव होता है, इसलिए इन्द्रियजन्य सुख दुःखमिश्रित माना जाता है । इसमें एक दृष्टान्त है – कोई किसान खेत में काम करते-करते थककर समीप के निर्मल सरोवर में स्नान करने गया । सरोवर के जल में झाँककर देखने पर उसे एक मणि दिखाई दी । उस मणि के लोभ से वह बार-बार गोता लगाता रहा पर कंगड़ पत्थर ही हाथ लगते थे । थक कर वह काँप रहा था तभी किसी महात्मा ने पूछा क्या खोज रहे हो ? उसने बताया कि मैं जल में मणि खोज रहा हूँ, वह दिखाई तो पड़ती है किंतु हाथ नहीं लगती। महात्मा ने कहा, जल से बाहर निकलो । इस पेड़ की शाखा पर चढो जो सरोवर की ओर गई है। वह उनकी अज्ञानुसार उस पेड़ की शाखा के ऊपर गया । उस शाखा में चील का घोंसला था, जिसमें मणि रखी थी, जो उसे प्राप्त

हो गई । इस दृष्टान्त का दार्ष्टान्त है कि सरोवर निर्मल चित्त है, आत्मा मणि है, उसका प्रतिबिम्ब चित्त रूपी सरोवर में पड़ रहा है, इसी को भ्रमवशात् जीव विषयजन्य सुख मानता है ।

श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा के मोह का प्रसङ्ग आता है । भगवान् श्रीकृष्ण ग्वाल बालों के साथ बछड़ा चराते हुए वन में गये और यमुना किनारे बैठकर वनभोजन कर रहे थे । बछड़े चरते-चरते दूर निकल गये थे । ब्रह्मा ने उनका हरण कर ब्रह्मगुफा में छिपा दिया । जब भगवान् बछड़े खोजने निकले तब तक ब्रह्मा ने ग्वाल बालों का भी हरण कर उन्हें भी गुफा में छिपा दिया तब ब्रह्मा को चमत्कृत करने के उद्देश्य से भगवान् स्वयं ग्वाल बालों का रूप धारण कर चराते रहे । उनकी माताओं और गौओं का अपने बालकों और बछड़ों से भी अधिक कृष्ण के रूपान्तर ग्वाल बाल और बछड़ों से प्रेम बढ़ता ही गया, कम नहीं हुआ। एक वर्ष के पश्चात् ब्रह्मा ने आकर क्षमायाचना की और ग्वाल-बाल बछड़ों को लौटा दिया। इस कथा को सुनकर राजा परीक्षित् ने जिज्ञासा की कि दूसरे के बेटे में इतना प्रेम कैसे हो गया ? इस पर श्रीशुकदेव जी ने बताया कि सभी प्राणियों को अपना आत्मा ही प्रिय होता है । पुत्र और धन आत्मा के सम्बन्ध से प्रिय होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि श्रीकृष्ण सभी प्राणियों की आत्मा हैं ।

सर्वेषामपि भूतानां नृपस्वात्मैव वल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ।।

इसका अर्थ है सब प्राणियों का अपनी आत्मा से स्वाभाविक प्रेम होता है, उसी के सम्बन्ध से पति, पुत्र और वित्त में प्रेम होता है । पति, पुत्र, वित्तादि आत्मीय हैं, जिसके सम्बन्ध से आत्मीय से प्रेम होता है, उस आत्मा में आत्मीयों से प्रेम होना स्वाभाविक है जबकि कृष्ण सब प्राणियों की आत्मा हैं । इस पर प्रश्न उठता है कि कृष्ण आत्मा कैसे ? श्रीशुकदेव जी ने बताया कि श्रीकृष्ण को सर्वान्तरात्मा समझो ।

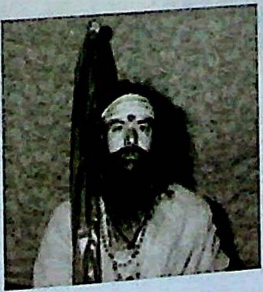
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ।।

इससे परीक्षित् के इस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि गोपियों और

गौओं का अपने बालकों और बछड़ों से कहीं अधिक गोपाल बालों और बछड़ों के रूप में परिणत कृष्ण से प्रेम क्यों हो गया क्योंकि कृष्ण आत्मा हैं और ये ग्वाल बाल आत्मीय हैं । वे अपनी योगमाया से देही (देहधारी) जैसे प्रतीत होते हैं वस्तुतः आत्मा से अभिन्न होने के नाते श्रीकृष्ण से अभिन्न है पर वह रज्जु में सर्प के समान कल्पित है, श्रीकृष्ण अकल्पित हैं । ये तभी समझ में आता है जब भगवान् की जीव पर कृपा हो । कृपा की पात्रता भक्ति से आती है और भक्ति निर्मल निष्काम प्रेम को कहते हैं । निर्मल निष्काम प्रेम धर्म से होता है । शरीर में यदि कोई मल लग जाए तो वह स्नान से शुद्ध होता है, कपड़े का मल जल और साबुन से शुद्ध होता है लेकिन अंतःकरण का मल निष्काम धर्म के आचार से ही शुद्ध होता है । निष्काम धर्म वह है, जिसका फल भगवान् के चरणों में अर्पित कर दिया जाय, इसलिये श्रुतियों ने कहा है -

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।

अर्थात् जो दुश्चरित से विरत नहीं है, जिसका मन चंचल और मलिन है, निश्चल निर्मल नहीं है । वह केवल तर्क से परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिए जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ना होगा । दुराचार का त्याग, सदाचार का अवलम्बन, यज्ञ, दान, तप जैसे सत्कर्मों का अनुष्ठान, फल की इच्छा का त्याग, भगवद्भक्ति और भगवत्कृपा से तत्त्वबोध एवं तत्त्वबोध से परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है । जैसे सब कुछ आत्मा के लिए प्रिय होता है, वैसे सभी संसारिक वस्तुएँ सुख के लिए होती हैं । आत्मा किसी के लिये नहीं होता, इसी प्रकार सुख भी अन्य किसी के लिये नहीं होता, इसलिये दोनों का लक्षण एक है ।



भोक्ता के लिए भोग्य है, भोग्य के लिये भोक्ता नहीं

चौरासी लाख योनियों में मानव शरीर मुक्ति का द्वार माना जाता है । आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्ति की उपमा स्वस्थता से दी गयी है । रोग बन्धन है, रोगों से मुक्ति ही मुक्ति है । स्वाभाविक रूप से जन्म से मनुष्य स्वस्थ ही रहता है । उसके शरीर में रोग बाहर से आता है । प्रारम्भ में वह माँ का दूध पीता है, यदि माँ के शरीर में किसी प्रकार का रोग हो, तो वह माँ के दूध को प्रभावित करता है और माँ का दूध बालक के स्वास्थ्य को प्रभावित करता है । ऐसी अवस्था में बालक को स्वस्थ रखने के लिये माता को पथ्य सेवन कराया जाता है । और जब उसका अन्नप्राशन हो जाता है तब वह स्वयं ही आहार ग्रहण करने लगता है । उस समय उसके द्वारा स्वीकृत आहार यदि समुचित हुआ (हित-मित-पथ्य हुआ) तो शरीर का विकास होता है, अन्यथा शरीर रोगग्रस्त हो जाता है । जिससे उसका मन भी प्रभावित होता है । आहार में अन्न-जल का उपयोग होता है, इसका प्रभाव मन और वाणी पर भी पड़ता है । इसके सम्बन्ध में उपनिषद् कहते हैं कि –

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति,
यो मध्यमः तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ।।
आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति,
यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ।।
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति,
यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ।।
अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति ।।

(छान्दोग्योपनिषद्)

खाया हुआ अन्न जाठराग्नि द्वारा पच कर तीन भागों में विभाजित होता है । अन्न का स्थूल भाग मल बनता है, मध्यम भाग रुधिरादि क्रम से परिवर्तित होकर मांस बनता है और अणुतम भाग मन रूप में परिवर्तित होता है अर्थात् मन की अभिवृद्धि करता है । इसी प्रकार पिया हुआ जल भी तीन रूपों में

परिणत होता है । उसकी जो स्थूल धातु है, वह मूत्र, मध्यम धातु रुधिर और सूक्ष्म धातु प्राण रूप में परिणत होती है । इसीलिये प्राण को जल का विकार कहा गया है । अत एव जल का ग्रहण करते रहने से उसके कार्य प्राण का विच्छेद नहीं होता ।

अन्न-जल की तरह उपभुक्त तेज (तैल-घृत आदि) भी तीन भागों में विभक्त होता है । उसकी स्थूल धातु अस्थि, मध्यम धातु मज्जा और सूक्ष्म धातु वाणी के रूप में परिवर्तित होती है । लोक व्यवहार से सिद्ध ही है कि घृत आदि के सेवन से वाणी विशद और भाषण करने में समर्थ होती है ।

तात्पर्य यह है कि मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है। इसलिये "**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**" आहार की शुद्धि से मन की शुद्धि होती है। लोक में कहावत है कि "**जैसा खाओ अन्न वैसा बने मन**" इसलिये शरीर की स्वस्थता के लिये ही नहीं, मन की शुद्धि के लिये भी आहार-शुद्धि की आवश्यकता है ।

सनातन धर्म में आध्यात्मिक उन्नति के कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन उपाय बताये गये हैं । सब में आहार-शुद्धि का ध्यान रखा जाता है । भगवद्गीता में आहार के सम्बन्ध में कहा गया है कि-

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।
(गी. १७/८)

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय, ऐसे आहार (भोजन-पदार्थ) सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं । अर्थात् इन पदार्थों के भक्षण से सत्त्वगुण की वृद्धि होती है ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।। (गी. १७/९)

अत्यधिक कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दुःख, शोक और रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजस पुरुष को प्रिय लगते हैं अर्थात् इन पदार्थों के भक्षण से रजोगुण की वृद्धि होती है ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। (गी. १७/१०)

अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा अपवित्र (मांसादि) भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है अर्थात् इन पदार्थों के भक्षण से तमोगुण की वृद्धि होती है ।

इन तीनों में राजस और तामस की अपेक्षा सात्त्विक को श्रेष्ठ बताया गया है । शुद्ध अन्न वही माना जाता है, जो तमोगुणी और रजोगुणी न हो, शास्त्रनिषिद्ध न हो ।

उदाहरणार्थ–

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ।।(मनुस्मृति ५/५)

अर्थात् लहसुन, गाजर, प्याज, छत्राक (कुकरमुत्ता) और अशुद्ध स्थान में उत्पन्न हुए अन्न-शाकादि का भक्षण नहीं करना चाहिये । तथा मांस भक्षण तो सर्वथा त्याज्य है क्योंकि –

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ।।(मनुस्मृति ५/४८)

अर्थात् प्राणियों की हिंसा किये बिना कभी भी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता और प्राणिवध स्वर्गप्रद नहीं है, अतः मांस को त्याग देना चाहिये ।

यह तो हुई उस आहार की चर्चा जो मुख से लिया जाता है, वस्तुतः "आह्रियन्ते इति आहाराः विषयाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है, वे सब आहार हैं । अतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को भी आहार कहा जाता है । शब्द भी दो प्रकार के होते हैं– शुद्ध और अशुद्ध। उसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस और गन्ध भी दो-दो प्रकार के होते हैं । इनका भी हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है। जो कुछ हम कान से भला या बुरा सुनते हैं, वह हमारे मन में सदा के लिये अंकित हो जाता है । इसलिये अशुद्ध शब्दों को नहीं सुनना चाहिये ।

एक दर्शनशास्त्र के आचार्य थे, वे सिर नीचा कर चिन्तन करते हुए प्रतिदिन पढ़ाने जाते थे और वैसे ही लौट आते थे । एक दिन तीव्र ज्वर के कारण वे बेहोश हो गये, उनके मुख से गन्दी गालियाँ निकलने लगी । उनके मित्रों को इससे आश्चर्य हुआ । जब वे स्वस्थ हो गये तब उनके मित्रों ने उनको कहा कि

आप बेहोशी में गालियाँ बोल रहे थे । आचार्य को भी आश्चर्य हुआ । वे उसका कारण ढूँढ़ने लगे । एक दिन महाविद्यालय जाते समय दो स्त्रियों की गालियाँ उन्हें सुनायी दी थी, गाली के वे शब्द वे ही थे, जो बेहोशी के समय उनके मुख से निकले थे । उनकी समझ में आ गया कि इन्हीं शब्दों के संस्कार पड़ गये थे । जब अनजाने में भी अनुचित शब्दों का मन पर प्रभाव पड़ता है, तब जो जान-बूझकर सुना जाता है, उसका प्रभाव तो पड़ेगा ही । इसलिये वैदिक मङ्गलाचरण है कि **"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम"** अपने कानों से हम भद्र (कल्याणप्रद शब्द) सुने । यही कारण है कि भगवत्कथा के श्रवण से अन्तःकरण शुद्ध होता है और ग्राम्यकथा के श्रवण से अशुद्ध । अशुद्ध शब्द श्रवण से मन में पाप-वासनाएँ बढ़ती हैं । इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की भी स्थिति है । आगे बढ़ने पर विषयों के द्वारा राग-द्वेष की बुद्धि होती है । जिन विषयों से सुख का अनुभव होता है, उनमें राग और जिनसे दुःख का अनुभव होता है, उनसे द्वेष होता है । यही बात अपने से सम्बद्ध व्यक्तियों की भी है । हमारे संपर्क में आने वाले जिन व्यक्तियों से सुख मिलता है, उनसे राग होता है और जिनसे दुःख प्राप्त होता है, उनसे द्वेष होता है । यह राग-द्वेष ही हमारे मन को अस्वस्थ बनाते हैं । ऐसे मन से परमात्मा का चिन्तन नहीं किया जा सकता । अशुद्ध मन से न तो परमात्मा की उपासना की जा सकती है और न हि परमात्मा के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है । इसलिये मृदितकषाय पुरुष ही तत्त्वज्ञान का अधिकारी माना जाता है। इसीलिये श्रुति ने कहा है कि - **"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः तं स्कन्द इत्याचक्षते"** (छान्दो. ७/२६/२)

इस पर शङ्कराचार्य जी ने भाष्य में कहा है कि **"आह्रियत इत्याहाराः शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगायाऽऽह्रियते, तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धी रागद्वेषमोहदोषैरसंस्पृष्टं विषयविज्ञानमित्यर्थः"** (शां. भा.) अर्थात् जिसका आहरण होता है, उसे आहार कहते हैं। शब्दादि विषयों का विज्ञान भोक्ता को तज्जन्य भोगों की ओर ले जाता है । उस विषयोपलब्धि रूप विज्ञान की शुद्धि ही आहारशुद्धि है अर्थात् राग, द्वेष, मोह रूप दोषों से

असंस्पृष्ट विषय विज्ञान ही आहारशुद्धि है। ऐसी आहारशुद्धि होने पर अन्तःकरण के सत्त्व की शुद्धि (निर्मलता) होती है। सत्त्वशुद्धि से ही पूर्वज्ञात भूमा (अनन्त) तत्त्व में निरन्तर दृढ़स्मृति होती है।

"स्मृतिलम्भे सति सर्वेषामविद्याकृतानर्थपाशरूपाणामनेकजन्मान्तरा-नुभवभावनाकठिनीकृतानां हृदयाश्रयाणां ग्रन्थीनां विप्रमोक्षो विशेषेण प्रमोक्षणं विनाशो भवति" (शां.भा.) उस स्मृति के प्राप्त होने पर अविद्याकृत समस्त अनर्थ पाश रूप तथा अनेक जन्मों में अनुभूत भावना से सुदृढ़ की हुई हृदयाश्रित ग्रन्थियों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है। हृदय की ग्रन्थियों को खोलने के लिए आहारशुद्धि ही मूल कारण होने से उस पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

"तस्मै मृदितकषायाय वार्क्षादिरिव कषायो रागद्वेषादिदोषः सत्त्वस्य रञ्जनारूपत्वात्स ज्ञानवैराग्याभ्यासरूपक्षारेण क्षालितो मृदितो विनाशितो यस्य नारदस्य तस्मै योग्याय मृदितकषायाय" (शां. भा.)

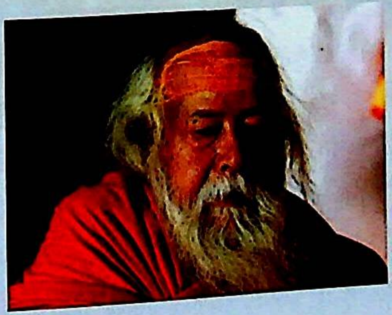
भगवान् स्कन्द ने नारदजी को लक्षित कर यह उपदेश दिया। वे नारदजी कैसे थे? तो कहते हैं कि वे मृदितकषाय थे। राग-द्वेषादि दोषों को ही प्रकृत में कषाय कहा गया है। जैसे वृक्ष की छाल से उत्पन्न रंग से वस्त्र रञ्जित हो जाता है, वैसे ही मनुष्य का अन्तःकरण राग-द्वेषादि से रंग गया है। इस रंग को ज्ञान, वैराग्य और अभ्यास रूपी क्षार से ही प्रक्षालित किया जा सकता है। अतः जो मृदितकषाय हैं, उन्हें ही तत्त्वज्ञान हो सकता है, अन्य को नहीं।

आहार शब्द का उपनिषद्, भगवद्गीता आदि धार्मिक ग्रन्थों में व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। पर उसका स्थूल रूप वही है, जिसका हम प्रतिदिन भोजन करते हैं। भोजन मुख्य रूप से अन्न और जल का होता है। आज मनुष्य ने उसी को दूषित कर लिया है। न हमारा अन्न शुद्ध है और न जल शुद्ध है। अशुद्धि अन्न के स्वरूप की होती है, अन्न के अन्यायपूर्वक उपार्जन से होती है, निर्माण के प्रकार से होती है, निर्माण कर्ता की अपवित्रता से होती है। साथ ही साथ निर्माण कर्ता की भावना का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। अन्न में आजकल व्यापक रूप से मिलावट की जा रही है। जो कुछ हम मुख से पेट में डाल रहे

हैं, सभी में मिलावट है। एक व्यक्ति ने जीवन से ऊबकर जहर खा लिया, किन्तु वह मरा नहीं क्योंकि जहर में भी मिलावट थी। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि भोक्ता के लिये भोग्य होता है, भोग्य के लिये भोक्ता नहीं होता। कण्ठ के लिये माला होती है, माला के लिये कण्ठ नहीं होता। किसी मार्ग में एक राक्षस रहता था, वह पथिकों को बुलाकर खाट में सुलाता था, यदि खाट बड़ी होती थी तो वह उस पथिक के शरीर को खींच-खींच कर बड़ा करता था और खाट शरीर से छोटी होने पर पथिक का जितना शरीर खाट से बाहर जाता था, उतना शरीर काट देता था। दोनों प्रकार से पथिक की मृत्यु हो जाती थी। वह मूर्ख नहीं समझता था कि मनुष्य के लिये खाट है, खाट के लिये मनुष्य नहीं। इसी तरह हमारे लिये आहार है, हम आहार के लिये नहीं।

आज मनुष्य अपने प्रयत्न से भौतिक विकास कर रहा है। वह हमारे जीवन के लिये होना चाहिये, जीवन उसके लिये नहीं। एक उदाहरण- श्रीमद्भागवत की कथा है। भगवान् ने वामन रूप धारण करके राजा बलि से तीन पैर पृथ्वी का दान माँगा और बलि ने तीन पैर पृथ्वी दान देने का वचन दिया। इसके पश्चात् भगवान् वामन ने उसकी त्रिलोकी को दो ही पैर से नाप लिया और कहा- तुमने तीन पैर पृथ्वी देने का सङ्कल्प किया है, अब तीसरे पैर की भूमि बताओ। बलि ने सुविचारित उत्तर दिया कि त्रिलोकी मेरी भोग्य है, मैं उसका भोक्ता हूँ, इसलिये अपना तीसरा पैर मेरे मस्तक पर रखिये। भगवान् वामन प्रसन्न हुए और बलि कृतकृत्य हो गया।

आज भोक्ता भोग्य की अशुद्धि के कारण संकट में है। इसलिये आवश्यकता है कि भोग्य के दोषों को दूर करके भोक्ता मानव जाति की रक्षा की जाए।



चमत्कार और आनन्द बाहर नहीं, हमारे भीतर ही हैं

भारतीय संस्कृति और सनातनधर्म के मूलस्रोत वेद तथा इतिहास और पुराणों में श्रद्धा का अत्यन्त महत्व बताया गया है। योगशास्त्र में लिखा है- **'श्रद्धा जननीव योगिनं पाति।'** जिसका अर्थ है- 'माता जैसे शिशु का पालन करती है, वैसे ही योगी का पालन उसकी श्रद्धा करती है।' भगवद्गीता के अनुसार सभी मनुष्यों में श्रद्धा होती है। कहा गया है - **'सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'** मनुष्य का जैसा अन्तःकरण होता है तदनुरूप ही उसकी श्रद्धा होती है। पुरुष श्रद्धामय है। जो जैसी श्रद्धा वाला है, वह वैसा ही है। वेदान्त-ग्रन्थों में बताई गई षट्सम्पत्तियों में श्रद्धा भी निरूपित है। वहाँ श्रद्धा का लक्षण बताया है - **'गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा'** अर्थात् गुरु और वेदान्त के वचनों में विश्वास ही श्रद्धा है। जो गुरु के वेदान्तानुकूल वचन हैं, उन पर विश्वास मोक्षमार्ग में सहायक है।

कुछ लोग श्रद्धा के सम्बन्ध में भ्रम के कारण अन्धश्रद्धा को ही श्रद्धा मान बैठते हैं और उसको ही महत्व देने लग जाते हैं। वहीं कुछ लोग श्रद्धा मात्र को ही अन्धश्रद्धा कहते हैं और जो प्रत्यक्ष सिद्ध है, उसी पर विश्वास आवश्यक बताते हैं। किन्तु अन्धश्रद्धा और वास्तविक श्रद्धा में अन्तर समझना आवश्यक है। जिस श्रद्धा के पीछे प्रमाण है, वह वास्तविक श्रद्धा है और जिसके पीछे प्रमाण नहीं है, वह अन्धश्रद्धा है। जैसे किसी की माता ने कहा कि शक्कर कड़वी होती है। चूँकि माता ने कहा है कि 'शक्कर कड़वी है' इतने मात्र से यदि बेटा शक्कर की मिठास को जानते हुए भी शक्कर को कड़वी मान ले तो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण अन्धश्रद्धा कही जाती है। किन्तु धर्म और ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं हैं। इनका ज्ञान शब्द से होता है। आप्त द्वारा उच्चरित शब्द को ही प्रमाण माना जाता है। सबसे बड़ा आप्त ईश्वर है, जिसके शब्द श्रुति-स्मृति हैं। जिस विश्वास के पीछे श्रुति-स्मृति का प्रमाण है, वह प्रामाणिक श्रद्धा, वास्तविक श्रद्धा है। इसके विरुद्ध जिस किसी के वचनों पर विश्वास

अन्धश्रद्धा है । जैसे 'इह वटे यक्षः ।' लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया कि इस वृक्ष में यक्ष है तो लोग उसे मान बैठते हैं, जबकि इसके पीछे कोई प्रमाण नहीं ।

हमारे शास्त्रों में चार पुरुषार्थों का वर्णन है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इसमें धन को अर्थ कहा गया है और इन्द्रियों की तृप्ति को काम । इसी तरह जो परलोक में हमारी सहायता करता है, उसे धर्म कहते हैं और ब्रह्म साक्षात्कार को मोक्ष कहा जाता है । धर्म और ब्रह्म दोनों ही शास्त्रैकसमधिगम्य है अर्थात् इन दोनों का ज्ञान शास्त्र के अतिरिक्त किसी और साधन से नहीं होता । यज्ञ करने से, माता-पिता की सेवा करने से, ध्यान करने से, इन्द्रिय-निग्रह रूप तपस्या आदि से स्वर्ग मिलता है, यह बातें शास्त्रों के अतिरिक्त किसी और साधन से नहीं जानी जा सकती हैं । इसलिए यह माना जाता है कि श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मा की प्रियता ही धर्म का लक्षण है ।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥

यदि हम आत्मा की प्रियता को ही धर्म मान बैठें और वह प्रियता यदि सदाचार के विपरीत है तो प्रियता धर्म नहीं हो सकती । इसी तरह सदाचार भी स्मृति और स्मृति भी श्रुति के अनुकूल होनी चाहिए। धर्म के सम्बन्ध में परम प्रमाण श्रुति ही है । उसी प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में भी श्रुति ही प्रमाण है ।

यदि हम केवल अपनी प्रियता को ही धर्म समझ लें तो भूत-प्रेत पिशाचादि पर भी श्रद्धा धर्म मानी जाएगी किन्तु वह एक आसुरी सम्पद् है । आजकल आसुर श्रद्धा बढ़ रही है । लोग किसी के भी चमत्कारों से प्रभावित होकर उस पर श्रद्धा करने लग जाते हैं । यदि उसका प्रतिवाद किया जाए तो उनका उत्तर होता है – 'हमने चमत्कार देखा है । हमारी इच्छाएँ पूरी हुई हैं । इसलिए हम उसके वचन को प्रमाण मानते हैं आदि ।' परन्तु ये सभी विचार भ्रामक हैं ।

वस्तुतः चमत्कार और आनन्द बाहर नहीं है अपितु अपने भीतर ही है । इस बात को निम्न दृष्टान्तों से समझा जा सकता है । पहले दृष्टान्त को देखें- कहते हैं कि कोई व्यक्ति वन में भ्रमण करता हुआ थक गया तो एक छायादार वृक्ष के नीचे बैठा । वहाँ उसे प्यास लगी । प्यास लगने पर उसके मन में इच्छा

जागी कि ठंगा पानी मिल जाता तो अच्छा होता । इसे चमत्कार ही कहना होगा कि उसके ऐसा सोचते ही ठंडा पानी आ गया । फिर उसे भूख लगी । जैसे ही उसने इच्छा की कि भोजन मिल जाए तो भोजन मिल गया। भोजन ग्रहण करते ही आलस्य आने लगा तो मन में अगली इच्छा जागी कि बिस्तर मिल जाए तो विश्राम कर लूँ । बिस्तर भी आ गया । ऐसा सुन्दर बिस्तर कि लेटते ही नींद आ गई । सन्ध्या समय हो गया । नींद खुली तो अन्धकार छा रहा था । यह देख उसने सोचा– घोर जंगल है, कहीं अन्धेरे में सिंह न आ जाए । सोचते ही सिंह आ गया । सिंह को देखकर सोचने लगा कि यह कहीं मुझे खा न जाय इतना सोचते ही सिंह ने उसे खा लिया। कारण यह था कि जिस वृक्ष के नीचे वह थकने पर आकर बैठा था, वह कल्पवृक्ष था। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर जो भी संकल्प किया जाता है, वह पूर्ण होता है । इसलिए वह जो–जो सोचता था, वह तत्काल पूर्ण होता था । वस्तुतः वह कल्पवृक्ष हमारा अन्तरात्मा ही है । हमारी इच्छाओं की पूर्ति अपने संकल्प से होती है । नासमझी से उसको हम किसी व्यक्ति पर आरोपित कर देते हैं । बाहरी व्यक्ति तभी हमारे लिए चमत्कारी सिद्ध होता है जब हमारा उससे सम्बन्ध जुड़ जाता है । ठीक उसी तरह जैसे आनन्द की उपलब्धि अन्तःकरण की एकाग्रता और पवित्रता से होती है किन्तु हम उसे विषयों पर आरोपित कर देते हैं । इसकी प्रक्रिया यूँ है – जब हमारे मन में किसी विषय को प्राप्त करने की इच्छा होती है तो वह इच्छा जब तक पूर्ण न हो जाए, मन में काँटे जैसी चुभती है । जैसे–जैसे वह गहरी होती है, दूसरी इच्छाओं को दबा देती है । पूर्व–पुण्यों के फलस्वरूप जब इच्छित विषय प्राप्त होते हैं तो हमारी वह इच्छा समाप्त हो जाती है और मन में प्रसन्नता से सात्विकता आ जाती है । इच्छा के पूर्ण होने से मन अगली इच्छा के उदित होने के पूर्व तक निःसंकल्प हो जाता है । इस अन्तराल में स्वच्छ अन्तःकरण में परमानन्द स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है । उसको देखकर सुख की अनुभूति होती है । हम उस सुख का कारण विषय को मान बैठते हैं । यदि उस विषय में सुख होता तो बाद में भी उसकी सन्निधि से आनन्द मिलना चाहिये था, परन्तु वैसा फिर अनुभूत नहीं होता ।

दूसरा दृष्टान्त है कि कोई एक किसान खेत में काम कर रहा था । श्रान्त

होकर समीप के एक सरोवर में स्नान करने लगा । सरोवर अत्यन्त स्वच्छ था । उसका जल पारदर्शी था । किसान ने देखा कि सरोवर के भीतर एक मणि चमक रही है । उसने बार-बार गोता लगाकर उस मणि को पकड़ना चाहा पर मणि उसके हाथ न आई । निराश होकर वह सरोवर के बाहर खड़ा हुआ । इतने में एक महात्मा आए । उन्होंने उसकी उदासी का कारण पूछा । उसने कहा कि सरोवर में मणि दिखती है पर बार-बार गोता लगाने पर भी हाथ में कंकड़-पत्थर ही आते हैं मणि नहीं । महात्मा ने कहा कि जैसा हम कहते हैं वैसा करो तो मणि मिल सकती है । मणि के लिए तुम सरोवर के तट के इस पेड़ पर चढ़ो और फिर उस डाली पर बढ़ो जो सरोवर की ओर गई है । किसान ने वैसा ही किया । डाली के अग्रभाग में चील का एक घोंसला था, जिसमें मणि रखी थी। उसे मणि मिल गई।

दार्ष्टान्त यह है कि सरोवर विषय है । आत्मा मणि है । विषय सरोवर में आत्मा मणि की छाया दिखाई देती है, जिसे पाने के लिए व्यक्ति आतुर है । विषय सरोवर में कोई चाहे कितनी भी बार गोता लगाये आत्मा मणि अर्थात् आत्मा का आनन्द अनुपलब्ध ही रहता है । एतावता यह सिद्ध हो गया कि आनन्द का स्रोत हमारे भीतर है, जिसको हम विषयों में आरोपित कर देते हैं ।

इसलिए यह बात भ्रमसिद्ध है कि विषयों में आनन्द है । वस्तुतः आनन्द अपने भीतर है । उसी प्रकार चमत्कार भी अपने भीतर है । देखा जाए तो किसी के भी माध्यम से चमत्कार का अनुभव तभी होता है जब हम उससे सम्बन्ध जोड़ते हैं । सम्बन्ध के बिना किसी की भी कृपा का अनुभव नहीं होता । इसलिए यह सिद्ध होता है कि जिसके सम्बन्ध से कृपा का अनुभव हुआ और हमारी इच्छा पूरी हुई, वह आत्मा ही उसका केन्द्र है ।

हमें मिथ्या चमत्कारों के चक्कर में न पड़कर धर्माचरण से, निष्काम कर्मयोग से, ईश्वर की निष्काम भक्ति से, सत्संग से, आहार-विहार की शुद्धि से मन को ही परिमार्जित करना चाहिए । यही सात्विक श्रद्धा है और यही मानवमात्र के लिए कल्याणकारी है ।

मानव-शरीर का महत्व और उसकी सार्थकता

श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में अवधूत श्रीदत्तात्रेय जी ने कहा है–

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या,
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय,
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ।। (भा. ११/९/२८)

परमेश्वर ने विविध प्रकार के शरीरों की रचना की । स्थावर वृक्ष, सरकने वाले सर्प, दौड़ने वाले मृग, उड़ने वाले पक्षी, जल में तैरने वाली मछलियाँ और छोटे-छोटे कीड़े बनाकर जब उन्हें संतोष नहीं हुआ तो सबसे अन्त में उन्होंने मानव शरीर की रचना की और जब देखा इसमें ऐसी बुद्धि है, जिससे ब्रह्मसाक्षात्कार किया जा सकता है, उन्होंने प्रसन्नता का अनुभव किया । इस दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव शरीर चौरासी लाख योनियों में सर्वश्रेष्ठ है । उपनिषदों में बताया गया है कि ब्रह्मलोक में जैसे धूप और छाँव पृथक् प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार आत्मा और अनात्मा का पृथक् अनुभव होता है । उससे नीचे के लोकों में चंचल और मलिन सरोवर में दिखाई पड़ने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान, तो कहीं स्वप्न जैसी अस्पष्ट और क्षणिक वस्तु के दर्शन के समान ब्रह्म का अनुभव होता है । पर मनुष्य शरीर में आकर जैसे कोई दर्पण में अपना मुख स्पष्टता से देख लेता है, वैसे ही जिसका अन्तःकरण शुद्ध है अर्थात् चंचल और मलिन नहीं है, उसे दर्पणवत् ब्रह्म का दर्शन हो जाता है । ब्रह्म-साक्षात्कार से ही प्राणी के समस्त दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसलिये बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इसका उपयोग पशु-पक्षियों के समान सांसारिक भोगों में न करके परमात्मा के दर्शन के लिए करें । मानव-शरीर की एक दूसरी विशेषता यह भी है कि यह कर्मयोनि है, इसके द्वारा नवीन कर्म किए जा सकते हैं । जबकि अन्य योनियों में पूर्वकृत कर्मों का ही फल भोगा जा सकता है । उपनिषदों और पुराणों में देवताओं के द्वारा भी ब्रह्मदर्शन का प्रयत्न और सफलता की कथाएँ मिलती हैं । जैसे इन्द्र ने ब्रह्माजी के पास जाकर अमृत, अभय ब्रह्म का अनुभव बहुत वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन

करके प्राप्त किया । किन्तु वहाँ सुख की अधिकता के कारण जिज्ञासा का उदय नहीं हो पाता।

प्रायः पूर्वकृत कर्मों का फल ही भोगा जाता है । मानवशरीर में प्रारब्ध का भोग करते-करते भी नवीन कर्म किए जा सकते हैं । कर्म दो प्रकार के होते हैं - एक विहितकर्म और दूसरा निषिद्धकर्म। विहितकर्म को धर्म कहते हैं और निषिद्धकर्म को अधर्म कहते हैं । मनुष्य की प्रत्येक चेष्टाएँ धर्म-अधर्म बन जाती हैं । जैसे किसी का देखना, चलना, आदान-प्रदान, खाना-पीना, बोलना या मौन रहना यह सब क्रियाएँ यदि शास्त्रविहित हैं तो वह धर्म हो जाती हैं और यदि निषिद्ध हैं तो अधर्म हो जाती है । भगवान् की कथा सुनने से धर्म होता है । परनिन्दा और व्यर्थ की चर्चा सुनने से अधर्म होता है । नेत्रों से भगवान् के मन्दिर में दर्शन करने से, गङ्गा के दर्शन, नर्मदा के दर्शन एवं संत-महात्माओं के दर्शन से धर्म होता है । हाथ से दान करना, माता-पिता की सेवा करना धर्म जबकि लोभवश चोरी करना, बलपूर्वक दूसरों के धन का अपहरण करना अधर्म हो जाता है । शुद्ध अन्न भगवान् को नैवेद्य लगाकर खाना धर्म है, वही मद्य-माँसाहार करना अधर्म है । चलना-फिरना भी धर्म-अधर्म हो जाता है ।

इसीलिये इस शरीर का धर्मार्जन के द्वारा सदुपयोग करने में इसकी सार्थकता मानी जाती है । धर्म-अधर्म और उनके फल स्वर्ग-नरक परोक्ष होने के कारण उनका अनुभव प्रत्यक्ष-प्रमाण से यद्यपि नहीं होता पर उसके लिए दूसरे नेत्र हैं, जिनको हम शास्त्र कहते हैं । शास्त्र का अर्थ है- **हितमुपदिश्यते शास्यते अनेन इति शास्त्रम्** । जिसके द्वारा हमारा लोक-परलोक में हित हो ऐसे उपाय जिनके द्वारा हमें ज्ञान होता है, उसे हम शास्त्र कहते हैं । मुख्य रूप से शास्त्र वेद हैं, जो सृष्टि के आरम्भ से ही ईश्वर की प्रेरणा से ऋषियों के हृदय में मन्त्रों के रूप में आविर्भूत हुए थे । ऋषि मन्त्रों के दृष्टा हैं, कर्ता नहीं हैं । वेदशास्त्र हमें मार्गदर्शन करते हैं किन्तु वे शब्दरूप हैं । वे शब्द किसी मनुष्य के न होकर अपौरुषेय वेदों के हैं, इसीलिए उनका किसमें तात्पर्य है इसके निर्णय के लिए मीमांसाशास्त्र में साधन बताये गये हैं । शास्त्र को अधिकारी की आवश्यकता होती है । सर्वप्रथम शास्त्र के उपदेश का अधिकारी मानव होता है, जो स्वयं को मानव समझता है और अपना कल्याण चाहता है, उसके लिए मानवधर्म है ।

मानवधर्म को ही सामान्यधर्म कहते हैं । धृति, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, चोरी न करना, बाहर भीतर से पवित्र रहना, मन को वश में रखना, ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करना, सत्य बोलना, क्रोध न करना यह मानवधर्म है । इसके बिना मानव पशुतुल्य हो जाता है । उसके पश्चात् वर्ण आश्रम के कर्त्तव्य हैं, जिनमें माता-पिता, गुरुजनों की सेवा, दीन-दुःखियों की सहायता, पत्नी का पति के प्रति, पिता का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति, भाई का भाई के प्रति जो कर्त्तव्य होते हैं, उन्हें विशेषधर्म कहते हैं ।

कुछ धर्मों में शरीर की प्रधानता होती है और कुछ में मन की प्रधानता होती है । जिसमें मन की प्रधानता होती है, उसे उपासना कहते हैं । भक्ति उपासना का ही एक रूप है । जैसे वैदिक और स्मार्त कर्मों में यज्ञ प्रधान माना जाता है, जिसमें द्रव्य और देवता सुनिश्चित होते हैं, उसी प्रकार उपासना में उपास्य और उसमें उपासना की सामग्री श्रवण, कीर्तन, मनन, चरणसेवा, अर्चन, वन्दन, सख्य, आत्मनिवेदन यह किसके प्रति होना चाहिए, यह शास्त्रों के द्वारा सुनिश्चित होता है। इसके बिना जो अनुपास्य के प्रति इस प्रकार के उपचार किये जाते हैं, वह विपरीत फल देने वाले और अन्धविश्वास माने जाते हैं ।

संकर्षणसूत्र में कहा गया है - **अचेतनासत्यायोग्यानि अनुपास्यान्य-फलत्वविपर्ययत्वाभ्याम्।** असत् , अचेतन और अयोग्य की पूजा करने से पूजा निष्फल और विपरीत फल देने वाली होती है। शास्त्रों में तीन प्रकार के मनुष्य माने गये हैं-

विषयी साधक सिद्ध सयाने ।
त्रिविध जीव जग वेद बखाने ।। (रामचरित मानस)

विषयी साधक और सिद्ध तीन प्रकार के जीव माने जाते हैं । विषयी वह है, जो शास्त्रों के अनुसार संसार के विषयों का सेवन करता हुआ अधर्म से बचता हुआ ऐसे कर्म करता है, जिससे परलोक में भी सुख मिले, वह विषयी है और जो इहलोक और परलोक दोनों से विरक्त होकर देह को ही दुःख का कारण समझता हुआ और जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के दुःख-दोषों पर विचार करे, वह साधक है । जैसा कि गीता में कहा गया है - **जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।** वह सोचता है कि हमारी मृत्यु क्यों

होती है ? क्योंकि हमने जन्म लिया । यह एक बार नहीं होता । मरण के पश्चात् फिर जन्म होता है और फिर जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आती है और यह निरन्तर चलता रहता है । इसीलिये वह शास्त्रानुसार मोक्ष के साधन में निरत रहता है । इसके पश्चात् तीसरा जीवन्मुक्त है, उसे सिद्ध कहते हैं । उसके लिए शास्त्र नहीं है । उसके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से जो कर्म होते हैं, वह स्वभाव बन जाते हैं । साधना के समय कर्म प्रयत्नसाध्य होते हैं और ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् कर्म स्वभाव बन जाते हैं, जिससे स्वाभाविक रूप से लोककल्याण होता है । उन्हें यह अभिमान नहीं होता कि हम लोककल्याण कर रहे हैं । चौथा एक पामर भी होता है, जिसको गोस्वामी तुलसीदास जी ने जड़ कहा है । उसकी चेष्टाएँ पशु के समान होती हैं । पशु को उचित-अनुचित, पाप-पुण्य का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही पामरों की दशा होती है । इसीलिए आवश्यक है कि दुर्लभ मानव-शरीर में आकर पामरता का त्याग करके शास्त्रों के अनुसार अपने मन को शुद्ध करके परमेश्वर की प्राप्ति के लिए जीवन में प्रयत्न करना चाहिये । भक्तिमार्ग के पथप्रदर्शक संत हुआ करते हैं, जो जीवों को संसार के भोगों के प्रति जो उनकी आसक्ति है, उससे उनकों मोड़कर भगवान् की ओर लगाते हैं । सांसारिक इच्छाओं का कभी अंत नहीं हो सकता । सांसारिक इच्छाएँ वे हैं, जो अर्थ और काम की तृष्णा से उत्पन्न होती हैं, उनसे बचना चाहिये ।

यह देखा जाता है कि यदि तीन इच्छाओं की पूर्ति होती है तो चार नई इच्छाएँ खड़ी हो जाती हैं और इच्छाओं की संख्या सौ हो जाती है । तृष्णाओं का अंत नहीं है । अर्थ और काम की तृष्णा से प्रेरित होकर मनुष्य अशान्त ही होता है । शान्ति उसे ही मिलती है जो कामनाओं से रहित है । गीता में लिखा है -

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।।

सन्त सच्चे सुख का मार्ग बताते हैं । चमत्कार दिखाकर सांसारिक तृष्णा की वृद्धि में सहायक नहीं होते हैं, हमें वास्तविक सन्तों का संग करना चाहिये, जो हमें बहिर्मुख बनाते हैं, उनसे बचना चाहिये।